सहजानंद शास्त्रमाला

छहढाला

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

छहढाला

अध्यात्म योगी पूज्य गुरूवर
श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर
१५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

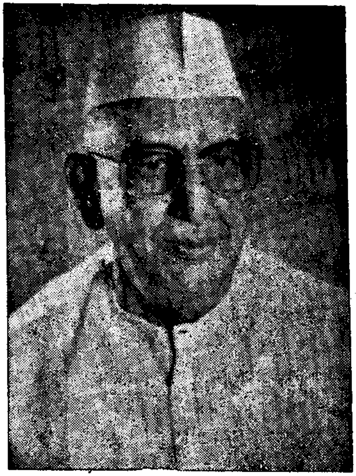

सरल उदार सुप्रसिद्ध समाज शिरोमणी

ला० गुलशन राय जी जैन उद्योगपति

अध्यक्ष : भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर
मुजफ्फरनगर

श्री परमात्मने नमः

छहढाला-टीका

प्रथम ढाल

मंगलाचरण, सोरठा छन्द

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिके ॥ १ ॥

शब्दार्थ—भुवन—लोक। विज्ञानता—ज्ञानस्वरूप। शिवकार—कल्याण व आनन्द। त्रियोग—मन, वचन, काय ये तीनों योग।

अन्वय—तीन भुवन में सार शिव स्वरूप शिवकार वीतराग विज्ञानता है, त्रियोग सम्हारिके नमहु।

अर्थ—तीन लोकमें सार कल्याण स्वरूप, आनन्द करने वाला वीतराग विज्ञान है उसको तीनों योग सम्हाल करके मैं नमस्कार करता हूं।

तात्पर्य—उर्ध्वलोक, मध्यलोक व अधोलोक, इन तीनों लोकों में सार तत्त्व अविकार ज्ञान स्वभाव है। यह शुद्ध ज्ञायक स्वभाव स्वयं कल्याणमय है, इसके आश्रयसे शुद्ध सहज आनन्दका प्रवाह झरता रहता है। इस शुद्ध ज्ञायक स्वरूप परम तत्त्व को मैं मन वचन काय इन तीनों कायोंको वश करके ज्ञानवृत्तिसे तद्रूप उपयोग होकर अभेद नमस्कार करता हूं।

"जीवों की चाह व ग्रंथरचनाका कारण (चौपाई)"

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहें दुखते भयवंत।
तातैं दुखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणा धारि ॥२॥

शब्दार्थ—त्रिभुवन—उर्ध्वलोक, मध्यलोक, पाताललोक ये तीन लोक। अनन्त—जिसका अन्त नहीं है। करुणा—दया।

अन्वय—त्रिभुवन में जो अनन्त जीव, (हैं, वे) सुख चाहें दुखते भयवंत तातै गुरु करुणा धारि दुखहारी सुखकार सीख कहें।

अर्थ—तीन लोक में जितने अनन्त जीव हैं वे सुख चाहते हैं और दुखसे डरते हैं। इस कारण श्री गुरु महाराज दया करके दुखको दूर करने वाली और सुखको उत्पन्न करने वाली शिक्षा को कहते हैं।

तात्पर्य—मुक्त जीव तो सर्व संकटों से मुक्त हैं, शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, किन्तु तीनों लोकों में जितने ये संसारी जीव हैं, वे सुख चाहते हैं और दुखोंसे डरते हैं। इस कारण मुनिराज इन जीवोंपर दया करके इनकी इस चाहके अनुकूल शिक्षा कहते हैं, जिससे इन जीवोंको वास्तविक सुख मिले व संकट सदाको दूर हों।

"गुरुशिक्षा सुननेका अनुरोध व संसारमें भटकने का कारण"

ताहि सुनो भविमन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोहमहामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥३॥

शब्दार्थ—भवि—भव्यजीव। थिर—स्थिर। अनादि—जिस कालका कभी प्रारम्भ नहीं। वादि—व्यर्थ।

अन्वय—हे भवि जो अपनो कल्याण चाहो, मन थिर आनि ताहि सुनो। अनादि मोह महामद पियो आपको भूलि—वादि भरमत।

अर्थ—हे भव्य जीवों! यदि अपना कल्याण चाहते हो तो मनको स्थिर करके उस शिक्षाको सुनो। अनादिकालसे यह जीव मोहरूपी तेज शराब पीकर अपने स्वरूपको भूलकर व्यर्थ भटकता आया है।

तात्पर्य—यह संसारी जीव भी परमात्माकी तरह ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु अनादिकालसे ही यह मोहसे अचेत होकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को भूला हुआ है। इसी कारण यह चारों गतियोंके विनश्वर भेष रखकर जन्म मरण करता हुआ व्यर्थ भटक रहा है।

—कथन की प्रामाणिकता—

तासु भ्रमणकी है बहु कथा, पै कछु कहूं कही मुनि यथा।

अन्वय—तासु भ्रमणकी बहु कथा है, पै यथा मुनि कही कछु कहूं।

शब्दार्थ—तासु—उसके, यथा—जिस प्रकार।

अर्थ—इस जीवके भटकने की बहुत लम्बी कहानी है, फिर भी जैसी मुनिराजने कही है वैसी ही कुछ कहता हूं।

तात्पर्य इस जीवके संसारमें भटकनेकी लम्बी कहानी है, फिर भी मैं संक्षेपमें कुछ कहता हूं जैसीकि सर्वज्ञ भगवानकी परम्परासे मुनि-राजोंने कही है, इसी कारण सर्व कथन पूर्ण सत्य समझा।

—निगोदके दु:ख व अन्य स्थावर पर्यायोंमें भ्रमण—

काल अनन्त निगोद मझार, वीत्यौ एकेन्द्रिय तन धारि ॥४॥

एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यौ मरचौ भरचौ दुख भार।

निकसि भूमि जल पावक भयौ, पवन प्रत्येक वनस्पति थयौ ॥५॥

शब्दार्थ—निगोद—साधारण वनस्पति। श्वास—स्वस्थ पुरुषकी एक बार नाड़ी फड़कने जितना समय। पावक—अग्नि। पवन—वायु।

अन्वय—अनन्तकाल एकेन्द्रिय तन धारि निगोद मझार वीत्यौ। एक श्वास में अठदस बार जन्म्यौ मरयौ दुखभार भरयौ। निकसि भूमि

जल पावक भयौ, पवन प्रत्येक वनस्पति थयौ ।

अर्थ—इस जीवका अनन्तकाल तो एकेन्द्रिय शरीर धारणकर निगोद-में व्यतीत हुआ । वहां यह जीव एक श्वासमें १८ बार जन्मा, मरा और दुखका बोझ ढोता रहा । निगोदसे निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व प्रत्येक वनस्पति हुआ ।

तात्पर्य—एकेन्द्रिय उसे कहते हैं जिसके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय ही हो जीभ नाक—आंख कान नहीं हो एकेन्द्रियके ५ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति । उसमें भी वनस्पतिकायके दो भेद हैं—(१) प्रत्येक वनस्पति, (२) साधारण वनस्पति । इनमें से साधारण-वनस्पति अर्थात् निगोद रह कर इस जीवका अनन्तकाल खोटी दशा में बीता । वहां स्वस्थ पुरुषके एक बार नाड़ि के चलने बराबर टाईम में १८ बार जन्म व मरण हुआ । यों इस जोवने घोर संकट सहा । निगोद से निकल कर भी पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक व प्रत्येक वनस्पतिकायिक हुआ ।

—विकलत्रिक त्रस पर्याय की दुर्लभता व उसके दुःख—

दुर्लभ लहि ज्यौं चिन्तामणी, त्यौं पर्याय लही त्रसतणी ।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धरि धरि मरचो सही बहु पीर ।

शब्दार्थ–दुर्लभ—कठिनाईसे । पर्याय—देह अवस्था । लट—सनी । पिपील–चिउटी । अलि—भौंरा । पीर—पीड़ा ।

अन्वय—ज्यौं चिन्तामणी दुर्लभ लहि, त्यौं त्रसतणी पर्याय लही । लट पिपील अलि आदि शरीर धरि धरि मरयो, बहुपीर सही ।

अर्थ—जैसे चिन्तामणि रत्न कठिनाईसे प्राप्त किया जाता है वैसी ही कठिनाईसे त्रसकी पर्याय प्राप्त की । सो वहां लट, चिवटी, भंवरा आदि के शरीर धारणकर करके यह जीव मरा और इसने बहुत पीड़ा सही ।

-तिर्यञ्चगतिमें असैनी पञ्चेन्द्रियकी दुर्दशा-

कबहूं पञ्चेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयौ ।

शब्दार्थ—निपट—बिल्कुल । थयौ—हुआ ।

अन्वय—कबहूं पञ्चेद्रिय पशु भयौ मन बिन निपट अज्ञानी थयौ ।

अर्थ—कभी पञ्चेन्द्रिय तिर्यन्च हुआ तो मन रहित होनेके कारण बिलकुल अज्ञानी रहा ।

तात्पर्य—जो पहिले उत्तरोत्तर विकास की बात प्रकट की थी उनमें यह बढ़ बढ़कर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक भो हो गया तो भी मन रहित होने से कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, हित अहित का ज्ञान नहीं रहा सो वह कल्याणका मार्ग नहीं पा सका ।

-सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके दु:ख-

सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूरि ।।७।।
कबहूँ आप भयौ बलहीन सबलनि करि खाये अतिदीन ।
छेदन भेदन भूख पियास, भारवहन हिम आतप त्रास ।।८।।
बध बन्धन आदिक दुख घने, कोटि जीभतें जात न भनै ।

शब्दार्थ—सैनी—मन सहित । क्रूर—दुष्ट । भूरि—बहुतेरे ।
भारवहन—बोझा ढोना, हिम—ठंड, आतप—गर्मी

अन्वय—सैनी सिंहादिक क्रूर ह्वै भूरि निबल पशु हति खाये । कबहूं आप बलिहीन भयो, सबलनि करि अति दीन खायौ । छेदन भेदनभूख पियास भारवहन हिम आतप त्रास बध बन्धन आदिक घने दु:ख कोटि जीभतैं भने न जात ।

अर्थ—कभी सैनी ज़ीव हुआ तो सिंहआदिक दुष्ट पशु हुआ, सो उसने बहुतेरे निर्बल पशुओं को मारकर खाया । कभी वह खुद निर्बल

हुआ तो अन्य बलवानों द्वारा अति दीन होता हुआ खाया गया। छेदा जाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझा ढोना, सर्दी-गर्मी का त्रास, बध होना, बांधा जाना आदिक जो घने दुख पशु पर्यायमें इस जीवने सहे हैं वे करोड़ों जीभोंसे भी कहे नहीं जा सकते।

तात्पर्य—असैनी भवोंसे निकलकर कभी यह जीव सैनी पर्यायमें भी आया तो यदि सिंह आदिक दुष्ट पशु हो गया तो उसकी क्रूर हिंसा प्रवृत्ति रही हित कुछ न कर सका और वह यदि कोई निर्बल पशु हुआ तो दूसरोंने उसका घात किया। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर तिर्यञ्च गति में जीवोंने ऐसे अन्य भी घोर दुःख सहे जिनका वर्णन करना भी अशक्य है, ऐसे घोर क्लेशों संक्लेशोंकी स्थितिमें कल्याणका मार्ग नहीं मिला।

—संक्लेश परिणामोंसे मरण और नरकगतिमें पतन—

अति संक्लेशभाव तैं मरचो घोर श्वभ्रसागर में परयो ॥९॥

शब्दार्थ—घोर—भयानक। श्वभ्र—नरक। सागर—समुद्र।

अर्थ—यह जीव अत्यन्त संक्लेश परिणामसे मरा और भयानक नरक रूपी समुद्र में पड़ा।

तात्पर्य - दुःखभरी परिस्थितियोमें यह जीव अत्यन्त संक्लेश परिणाम से मरा सो इसने नरक में जन्म लिया।

—नरककी भूमिके व वैतरणी नदीके दुःख—

तहां भूमि परसत दुख इसो, बीछू सहस डसैं नहिं तिसो।
तहां राध शोणितवाहिनी, कृमिकुलकलित देहदाहिनी ॥१०॥

शब्दार्थ—परसत—छूते ही। इसो—ऐसा। सहस—हजार। राध—पीव, शोणित—खून। कृमिकुल—कीड़ों का समूह। कलित—भरी हुई। दाहिनी—जलाने वाली।

अन्वय—तहां भूमि परसत इसौ दुख, तिसौ सहस बिछू डसैं नहिं। तहां कृमिकुलकलित देहदाहिनी राधशोणितदाहिनी।

अर्थ – उन नरकोंमें भूमि के छूतेही ऐसा दुःख होता है जैसाकि हजार बिच्छुओंके काटने से नहीं होता है। वहां कीड़ोंके समूहसे भरी हुई देहको जलाने वाली पीब खूनकी नदी है।

तात्पर्य—जैसे यहां जिस कमरेमें बिजलीका करेन्ट फैल जाय तो उस भूमिके छूनेसे वेदना होती है। ऐसे ही उन नरकोंमें भूमि छूनेसे नारकियों को वेदना होती है। वहां कीड़े मकोड़े आदि पिकलत्रय जीव नहीं हैं, किन्तु वे ही नारकी कीड़ोंकी विक्रिया करके दुख पहुंचाते हैं और अपवित्र घटनाओं से दुखी होते रहते हैं।

—नरकमें सेमर वृक्षके व सर्दीगर्मीकि क्लेश—

सेमर तरु जुत दल असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र।
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥११॥

शब्दार्थ – सेमरतरु—एक कटीला वृक्ष। दल—पत्ता। असिपत्र—तलवार की धार। विदारैं—फाड़ देते हैं। मेरु—मेरु पर्वत।

अन्वय – तत्र असिपत्र ज्यौं दलजुत सेमरतरु असि ज्यौं देह विदारैं। तत्र ऐसी शीत उष्णताथाय, मेरु समान लौहगलि जाय।

अर्थ –उस नरकमें तलवारकी धारके समान पैने पत्ते वाले सेमरके वृक्ष हैं जो शरीर को तलवारके समान फाड़ देते हैं। वहां ऐसी ठंड और गर्मी होत है कि मेरु पर्वतके बराबर भी लोहे का ढेर गल जा सकता है।

तात्पर्य—कभी नारकी विश्राम और छायाकी चाहसे सेमर वृक्षके नीचे आते हैं सो उस वृक्षके पत्ते जब गिरते हैं तो वे पत्ते शरीरको चीर देते हैं। वहां प्रकृत्या ऐसी गर्मीसर्दी है कि गर्मी के मारे पर्वत बराबर लोहे का ढेर भी गल सकता है और सर्दीके मारे ठिठुर कर खिर सकता है। ऐसे दु सह दुःख पापके कारण नारक पर्यायमें इस जीवने सहे।

—अन्य नारकियों द्वारा किये गये, असुरद्वारा भिड़ाने के व प्यास के क्लेश—

तिल तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचन्ड।
सिन्धु नीर ते प्यास न जाय, तो पण एक न बूंद लहाय।

शब्दार्थ—प्रचण्ड— तेज, सिन्धु—समुद्र।

अन्वय—देहके तिल तिल खण्ड करैं, प्रचण्ड दुष्ट असुर भिड़ावें। प्यास सिन्धुनीरतैं न जाय, तोपण एक बूंद न लहाय।

अर्थ—वे नारकी एक दूसरेके शरीरके तिल तिल बराबर टुकड़े कर देते हैं और उन्हें अत्यन्त दुष्ट असुरजातिके देव भिड़ा देते हैं। उनकी प्यास समुद्र भर जलसे भी नहीं मिट सकती, तो भी उन्हें जलकी एक बूंद भी नहीं मिलती।

तात्पर्य—नारकियोंकी ऐसी खोटी विक्रिया होती है कि वे जैसे हथियारों से दूसरों को मारना चाहते हैं वैसे हथियार उनके हाथ आदि अंग बन जाते हैं सो वे जब चाहे जो मिले उसीके देहके टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। देहके खण्ड खण्ड होनेपर भी वे फिर मिल जाते हैं ऐसा ही उनका वैक्रियक शरीर है। नारकियोंको परस्पर असुर भी भिड़ाकर लड़ाते हैं। नारकियोंको प्यासकी तीव्र वेदना रहती है, किन्तु प्यास मिटानेका वहां कोई साधन नहीं मिल पाता।

—नरकमें भूखका वर्णन व आयुका निर्देश तथा मनुष्यगतिकी प्राप्तिका वर्णन—

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय।
ये दुख बहु सागर लों सहे, करमजोगतैं नरगति लहे॥१२॥

शब्दार्थ—कणा—दाना। सागर—अनगिनते वर्षों का समय।

अन्वय-तीन लोकको नाज जु खाय, भूख न मिटे, कणां न लहाय। ये दुःख बहु सागर लों सहे, करम जोगतैं नरगति लहे।

अर्थ—तीन लोकका भी अनाज खाले तो भी उन नारकियोंकी भूख न मिटै किंतु अन्नका एक दाना भी वहां नहीं मिलता। ऐसे दुःख इस जीवने बहुत सागरों पर्यन्त सहे और फिर शुभ कर्मका उदय हुआ तो मनुष्यगति प्राप्त की।

तात्पर्य—नारकी जीवों को इतनी तीव्र भूखकी वेदना रहती है कि दुनिया का सारा अनाज भी खालें तो भी शांति नहीं हो सकती, किंतु एक दाना भी उनके भाग्य में नहीं है। ऐसेघोर दुख अनगिनते वर्षों तक सहन किये गये। जब पाप का उदय मंद हुआ और पुण्यकर्मका उदय आया तब मनुष्य गति मिली।

—मनुष्यगतिमें गर्भ व प्रसव का दुःख—

जननी उदर वस्यौ नव मास, अंग सकुचतै पाई त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर॥

शब्दार्थ—जननी—माता। उदर—पेट। वस्यौ—रहा। सकुचते—सिकुड़ने से। त्रास—पीड़ा। ओर—अन्त।

अन्वय—जननी उदर नव मास वस्यौ, अंग सकुचतें त्रास पाई, निकसत जे घोर दुःख पाये तिनको कहत ओर न आवे।

अर्थ—माताके पेट में नौ मास रहा, वहां अंगों के सिकुड़ने से पीड़ा पाई, वहां से निकलते समय जो भयानक दुःख पाये उनको कहते हुए अन्त नहीं आ सकता।

तात्पर्य—जब इस जीवने मनुष्यगतिमें जन्म लिया तब पहिले तो गर्भ में नौ माह तक सिकुड़ा हुआ बसा रहा, गर्भ से निकलते समय घोर क्लेश सहा जिसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता।

—मनुष्यगति में बचपन, जवानी व बुढ़ापे के क्लेश—

बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणीरत रह्यौ।

अर्द्ध मृतक सम बूढापनों, कैसे रुप लखै आपनो ॥१५॥

शब्दार्थ—तरुण—जवान। तरुणी—स्त्री। अर्द्धमृतक—अधमरा।

अन्वय—बालपन में ज्ञान न लह्यौ, तरुणसमय तरुणीरत रह्यौ, बूढ़ापनो अर्द्धमृतकसम, अपनो रुप कैसे लखै।

अर्थ—मनुष्य होकर भी बचपनमें ज्ञान प्राप्त नहीं किया, जवानी के समय स्त्री में लीन रहा, बुढ़ापा अधमरे के समान है सो वहां अपना स्वरूप कैसे देख सकता है।

तात्पर्य—जो मनुष्य बचपन में धर्मशिक्षा नहीं पा सका और जवानी में स्त्री में मोहरत रहा वही मनुष्य अन्तमें बूढ़ा होगया तब आत्म स्वरूपके दर्शन का पात्र कहां रहा? कहीं नहीं। यह उसी एक मनुष्य की कहानी है अलग अलग मनुष्यकी नहीं लगाना क्योंकि साधु सन्त ज्ञानी, तपस्वी पुरुष भी बूढ़े हो जाते हैं वे वृद्ध तो आतमस्वरूप में सावधान रहसकते हैं। यहां मनुष्य-गतिके दु:ख बतानेका प्रयोजन है।

—देवगतिमें भवनत्रिकके दु:ख—

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुर तन धरै।
विषय चाह दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुख सह्यौ।१६।

शब्दार्थ—अकामनिर्जरा—आ पड़े दु:खको सहनशील होकर भोगना। भवनत्रिक—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी ये तीन प्रकार के देव। दावानल—वनकी आग।

अर्थ—इस जीवन में कभी अकामनिर्जरा की सो भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी जाति में देवका शरीर धारण किया। वहां विषयोंकी चाह-रूपी अग्निमें जला और मरते समय विलाप करते हुए दु:ख सहा।

तात्पर्य—कभी इस जीवने आपड़े कर्मों का फल समता से भोगा तो देवोंकी जो तीन जघन्य जातियां हैं भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी इनमें देव शरीर धारण किया, परन्तु वहां भी अपने जीवनमें

पांच इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहकी भयंकर अग्नि में जलता रहा और मरते समय विषय सुख छूटने के ख्यालसे व मोहसे रो रो कर क्लेश सहा।

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहं ते चय थावरतन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥१७॥

शब्दार्थ–विमानवासी—वैमानिकदेव। परिवर्तन—चक्कर, परिभ्रमण।
अर्थ—यह जीव यदि वैमानिक देव भी होगया तो सम्यग्दर्शनके बिना दुःख पाया और वहांसे मरणकर स्थावर शरीर तक भी धारण किया। इस प्रकार इस जीवने संसारके परिवर्तन पूरे किये अर्थात् संसार में चक्कर लगाये।
तात्पर्य वैमानिक देव होकर भी यदि सम्यक्त्व न पाया तो एकेन्द्रिय जीवभी होने की नौबत आई। इस तरह द्रव्य क्षेत्रकाल भव व भाव के परिवर्तन पूरे किये याने ऐसे चारों गतियोंमें चक्कर लगाते रहने में अनन्तकाल व्यतीत कर डाला।

पहली ढाल समाप्त

दूसरी ढाल

—संसारपरिभ्रमण के कारण—

ऐसे मिथ्यादृग्ज्ञानचरण, वश भ्रमत भरत दुख जन्म मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान ॥१॥

शब्दार्थ—मिथ्यादृग्ज्ञान चरण—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-चारित्र।

अन्वय—ऐसे मिथ्यादृग्ज्ञानचरण वश भ्रमत जन्ममरण दुख भरत । हे सुजान तातैं इनको तजिये, तिन संक्षेप बखान कहूं, सुन ।

अर्थ—इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रके वश होकर संसारमें भटकता है और जन्ममरणके क्लेश सहता है । हे सुजान ! इस कारण इन तीनोंको छोड़िये, उनका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूं सो सुनिये ।

तात्पर्य—जीवके संसारमें भटकनेका कारण आत्माका विपरीत विश्वास विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण है इसीसे जन्ममरणकी परम्परा चलती है । ये समस्त क्लेश मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र का त्याग करने से ही मिटते हैं ।

-अगृहीत मिथ्यादर्शन व जीवतत्त्वमें विपरीत श्रद्धान-

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिन माहिं विपर्ययत्व ।
चेतनको है उपयोग रुप, विन मूरति चिन्मूरत अनूप ॥२॥

शब्दार्थ—विपर्ययत्व—उल्टा, विनमूरत—अमूर्त, अनूप—उपमारहित (अनुपम)

अन्वय—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व हैं तिनमाहि विपर्ययत्व सरधैं । चेतनको रूप उपयोग है जो विनमूरत चिन्मूरत अनूप है ।

अर्थ—मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्व हैं उनमें यह जीव उल्टा श्रद्धान करता है । चेतनाका स्वरूप उपयोग है जो अमूर्तिक, चैतन्यमय व उपमारहित है ।

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीवचाल ।
ताको न जानि विपरीत मान, करि को देह में निज पिछान ॥३॥

शब्दार्थ—जीवचाल—जीव का स्वरूप, पिछान—पहिचान ।

अन्वय—पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल इनतैं जीव चाल न्यारी है, ताको

न जानि विपरीत मान करि देहमें निज पिछान करै ।

अर्थ—पुद्गल, आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य इनसे जीवका स्वरूप न्यारा है । उस जीवस्वरूपको न जान कर विपरीत मानकर यह मोही जीव शरीर में अपनी पहिचान करता है ।

तात्पर्य-जीव चेतन है और पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश व काल ये ५ द्रव्य अचेतन हैं किन्तु यह मोही जीव अपने इस चैतन्य-स्वरूप को तो नहीं जानता है और शरीरको आत्मा मानता है ।

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, वेरुप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥

शब्दार्थ —सुभग —सुन्दर, प्रवीन— चतुर ।

अन्वय-मैं सुखी दु खी हूं, मैं रंक राव हूं, मैं सवल दीन वेरुप सुभग मूरख प्रवीन हूं, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव है, मेरे सुत तिय हैं ।

अर्थ मैं सुखी हूं, दु:खी हूं, मैं राजा हूं, गरीब हूं, मैं सबल हूं, दीन हूं, वेरूप हूं, मनोज्ञ हूं, मूर्ख हूं, चतुर हूं, मेरे घर धन पशुधन व प्रभाव है मेरे पुत्र स्त्री हैं इत्यादि रूपसे मिथ्यात्वमें प्रतीति रहती है ।

तात्पर्य—अपने को राजा, गरीब, सबल, दीन, वेरूप सुन्दर मानना, परपदार्थोंको आत्मा मानना, अपनेको सुखी दु:खी मूर्ख निपुण मानना प्रभावोंको कात्मा मानना, धन घर पुत्र स्त्री आदिको अपना मानना, परभावोंको अपना मानना ये सब अहंकार और ममकार (ममता) मिथ्यात्व है ।

—अजीव तत्त्वमें विपरीत श्रद्धा—

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।

शब्दार्थ—तन—शरीर, उपज—उत्पत्ति ।

अर्थ— शरीरके उत्पन्न होनेको अपनी सम्पत्ति मानना और शरीरके नाश होने को नाश मानना मिथ्यात्व है।

तात्पर्य— यह मिथ्यादृष्टि जीव इस अचेतन शरीर के उत्पन्न होने को तो अपनी उत्पत्ति मानता है और शरीरके नाश होनेको अपना नाश मानता है इस प्रकार अजीव तत्त्वमें यों विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें रहती है।

—आस्रवतत्त्वमें विपरीत स्रद्धा—

रागादि प्रगट जे दुःखदेन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ।५।

शब्दार्थ—दुःखदैन—दुःखदाई। गिनत—मानता है।

अन्वय—रागादि जे प्रगट दुःखदैन तिन ही को सेवत चैन गिनत।

अर्थ— रागादिक भावजो प्रगट दुःखदाई हैं, उन्हींको सेवता हुआ यह मिथ्यादृष्टि जीव चैन मानता है।

तात्पर्य— रागादिक भाव आस्रवभाव हैं, दुःखके ही देने वाले हैं, किन्तु यह अज्ञानी जीव उन रागादिक भावोंको सुखदाई मानता है और रागादिक के पोषणमें चैन मानता है। यों आस्रव तत्त्वमें इस प्रकार विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें रहती है।

—बन्धतत्त्वमें विपरीत श्रद्धा—

शुभ अशुभ बन्धके फल मझार, रति अरति करै निज पद विसार।

शब्दार्थ—रति—राग। अरति—द्वेष। विसार—भूलकर।

अन्वय निज पद विसार शुभ अशुभबन्धके फल मझार रति अरति करै।

अर्थ— यह जीव अपने पदको भूलकर शुभ अशुभ बन्धके फलमें रति व अरति करता है।

तात्पर्य—शुभबन्धका फल पुण्यठाठ है और अशुभ बन्धके फल विपदायें हैं। पुण्यठाठ और विपदायें दोनों ही जीव के अहितरूप हैं, ज्ञानके तो ज्ञेय ही हैं किन्तु यह अज्ञानी जीव पुण्यके फलमें रति मानता है और पापके फलमें अरति करता है। यों बन्ध तत्त्वमें विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें होती है।

—संवर तत्त्वमें विपरीत श्रद्धा—

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, तैं लखै आपको कष्ट दान ।६।

शब्दार्थ—विराग—वैराग्य । कष्टदान—कष्ट देने वाला ।

अन्वय - विराग ज्ञान आतम हित हेतु, तै आपको कष्टदान लखै ।

अर्थ—वैराग्य और ज्ञान आत्माके हित के कारणभूत हैं, उन्हें यह अज्ञानी जीव अपने को कष्टदायी मानता है ।

तात्पर्य - ज्ञाता मात्र रहना व विरक्त रहना संवर भाव है यह संवर भाव आत्माका हित करने वाला है । इस भाव को मिथ्यादृष्टि जीव कष्टदायी मानता है । यों संवर तत्त्वमें विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें होती है ।

—निर्जरा तत्त्वमें व मोक्षतत्त्वमें विपरीत श्रद्धा—

रोकी न चाह निजशक्तिखोय, शिवरूप निराकुलता न जोय ।

शब्दार्थ—चाह—इच्छा । खोय—खोकर । शिवरूप—मोक्ष का स्वरूप । न जोय—प्रतीक्षा नहीं करता है ।

अन्वय—निज शक्ति खोय चाह न रोकी, निराकुलता शिवरूप जोय न ।

अर्थ - इस अज्ञानी जीवने अपनी शक्ति खोकर इच्छाओं को न रोका और निराकुलतामय मोक्षस्वरूपकी प्रतीक्षा नहीं की ।

तात्पर्य –अपनी ज्ञानशक्तिका विकास करके इच्छाओंको दूर कर देना सो निर्जरा है इस निर्जराकी ओर मिथ्यात्वदशा में दृष्टि नहीं होती और उल्टी इच्छायें की जाती हैं उसीमें भला माना जाता है । यों निर्जरातत्त्वमें विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें होती है । पूर्ण निराकुल अवस्था मोक्ष में है सो इसे मोक्षस्वरूपकी उत्सुकता भी नहीं होती और सांसारिक संकटोंकी रुचि होती है । यों मोक्षतत्त्वमें विपरीत श्रद्धा मिथ्यात्वमें होती है ।

याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।

शब्दार्थ—प्रतीति—विश्वास, अज्ञान—मिथ्याज्ञान।

अर्थ—मिथ्या प्रतीति सहित जो कुछ भी ज्ञान है उसे दुःखदाई अज्ञान समझो।

तात्पर्य—मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंकी ऐसी उल्टी श्रद्धामें जो कुछभी ज्ञान होता है वह अगृहीत मिथ्याज्ञान है।

अगृहीत मिथ्याचारित्रका स्वरूप–

इन जुत विषयनमें प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्या चरित्त।८।

शब्दार्थ—जुत—सहित, प्रवृत्त—प्रवृत्ति (लगन), मिथ्याचरित्त—मिथ्याचारित्र।

अन्वय—इन जुत जो विषयनमें जो प्रवृत्त ताको मिथ्याचरित्त जानो।

अर्थ—इन मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानोंसे सहित जो विषयोंमें प्रवृति होती है उसको मिथ्याचारित्र मानो।

तात्पर्य—अगृहीत मिथ्यादर्शन व अगृहीत मिथ्याज्ञानसे युक्त जीवकी जो इन्द्रिय व मनके विषयोंमें जो प्रवृत्ति होती है उसको अगृहीत मिथ्याचरित्र जानो।

–गृहीत मिथ्यात्वादि के वर्णन की सूचना–

यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अव जे गृहीत सुनिये सु तेह।

शब्दार्थ—निसर्ग—अगृहीत, मिथ्यात्वादि—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र।

अन्वय—जेह निसर्ग मिथ्यात्वादि, –यों अव जेगृहीत सु तेह सुनिये।

अर्थ—जो अगृहीत मिथ्यात्वादिक हैं वे इस प्रकार कहे गये। अब जो गृहीत मिथ्यत्वादि हैं सो उन्हें सुनिये।

तात्पर्य—"जीवादिक प्रयोजन भूत तत्त्व" यहां से लेकर 'ताको जानो मिथ्याचरित्त' यहां तक अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान व अगृहीत मिथ्याचारित्र का वर्णन किया। अब जो गृहीत मिथ्यादर्शन गृहीत मिथ्याज्ञान व गृहीत मिथ्याचारित्र हैं उनका वर्णन सुनिये।

—गृहीत मिथ्यादर्शनका स्वरूप—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शन मोह एव।

शब्दार्थ—सेव—सेवा (उपासना), पोषै—पुष्ट करती है।

अन्वय—जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, दर्शनमोह एवं चिर पोषै।

अर्थ—जो कुगुरु कुदेव कुधर्मकी सेवा है वह दर्शनमोहको चिरकाल तक पुष्ट करती है।

तात्पर्य कुगुरु कुदेव कुधर्म की श्रद्धा रुचि सेवा करना सो गृहीत मिथ्यादर्शन है। यहगृहीत मिथ्यादर्शन इस जीवके दर्शनमोहको चिर-काल दृढ़ बना देती है जिससे यहअज्ञानी यथार्थ श्रद्धासे दूर रहता है और संसार भ्रमण बढ़ाता रहता है।

—कुगुरुका स्वरूप—

अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैं सनेह ॥९॥
धारैं कुलिङ्ग लहि महतभाव, ते कुगुरु जन्म जल उपल नाव।

शब्दार्थ—अन्तर—अन्तरङ्गमें, अम्बर—वस्त्र, महतभाव—महतपना, उपल—पत्थर।

अन्वय—जेह अन्तर रागादिक धरैं, बाहर धन अम्बर तैं सनेह, महत-भाव लहि कुलिंग धारैं ते कुगुरु जन्म जल उपल नाव।

अर्थ—जो अन्तरङ्गमें रागादिकको रखते हैं, बाहरमें धन वस्त्र आदि से स्नेह रखते हैं, जो महतपना जताकर खोटा भेष धारण करते हैं

वे कुगुरु हैं वे जन्मरूपी सागरमें पत्थरकी नौकाकी तरह हैं।

तात्पर्य—जो अन्तरङ्गमें तो रागादि भावका परिग्रह रखते हैं, बाहर में धन वस्त्र कुटी महल वाहन आदिका परिग्रह रखते हैं और भी महतपना जतानेके अर्थ मोक्षमार्गसे विपरीत जटा भस्म विचित्र वस्त्र आदिके भेषको रखते हैं वे कुगुरु हैं। वे संसार में खुद डूबते हैं और भक्तोंके डूबनेके निमित्त बनते हैं जैसे कि पत्थरकी नाव खुद डूबती है और उसमें बैठने वालों को भी डुबाती है।

—कुदेवका स्वरूप—

जे रागद्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन।१०।
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव।

शब्दार्थ—गदादि—गदा आदिक शस्त्र, शठ—मूढ़, भव—सागर छेव—अन्त।

अन्वय—जे रागद्वेष मल करि मलीन वनिता गदादि जुत चिह्न चीन ते कुदेव हैं तिनकी जु शठ सेव करत तिन भवभ्रमण छेव न।

अर्थ—जो रागद्वेष रूपी मैल से मलीन हैं, स्त्री गदा आदि सहित चिह्नों से पहिचाने जाते हैं वे कुदेव हैं उनकी जो मूढ़ सेवा करते हैं उनके संसारभ्रमण का अन्त नहीं है।

तात्पर्य—देव वीतराग और शुद्धस्वरूपी होते हैं, किन्तु रागी द्वेषी हैं स्त्री शस्त्र आदि रखते हैं और इन्हीं चिह्नों से जिनके देव होनेका परिचय कराया जाता है वे कुदेव हैं। इन कुदेवोंकी जो मूढ़ प्राणी भक्ति उपासना करते हैं उनका संसारमें भटकना बढ़ता जाता है।

—कुधर्मका स्वरूप—

रागादिक भावहिंसा समेत, दरवित त्रसथावर मरन खेत।११।
जेक्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।

शब्दार्थ— दरवित—द्रव्यहिंसा, अशर्म—दु:ख।

अन्वय—रागादिभाव हिंसा त्रसथावर मरन खेत दरवित हिंसा समेत क्रिया तिन्हें कुधर्म जानहु, तिन सरधै जीव अशर्म लहै।

अर्थ— रागादिक भावहिंसा व त्रस स्थावर जीवके घातरूप द्रव्यहिंसा करि सहित जो क्रियायें है उन्हें कुधर्म जानो। उनका श्रद्धान करनेसे जीव दु:ख पाता है।

तात्पर्य— धर्मके नाम पर जो क्रियायें ऐसी की जाती हैं जिनमें रागभावका पोषण होता है और त्रस स्थावर जीवोंका घात होता है वे सब क्रियायें कुधर्म हैं उनको धर्मरूपसे अथवा उपादेयरूपसे जो श्रद्धान करता है वह जीव संसार के संकटों को पाता रहता है।

—गृहीत मिथ्याज्ञानके स्वरूपके वर्णनकी सूचना—

याको गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान।१२।

शब्दार्थ—गृहीत मिथ्यात्व—गृहीतमिथ्यादर्शन, गृहीत अज्ञान—गृहीत मिथ्याज्ञान।

अन्वय—याको गृहीत मिथ्यात्व जान, अब जो गृहीत अज्ञान है, सुन।

अर्थ— इसको गृहीत मिथ्यादर्शन जानो अब जो गृहीत मित्याज्ञान है उसे सुनो।

तात्पर्य—"जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव" से लेकर "तिन सरधै जीव लहै अशर्म" तक कुगुरु कुदेव कुधर्मका श्रद्धान गृहीतमिथ्यादर्शन है यह कहा गया है अब जो गृहीत मिथ्याज्ञान है उसे सुनिये।

—गृहीत मिथ्याज्ञानका स्वरूप—

एकान्तवाददूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कुज्ञानिरचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास।१३।

शब्दार्थ—अप्रशस्त—खोटा, श्रुत—शास्त्र, कुबोध—मिथ्याज्ञान।

अन्वय—एकान्तवाद दूषित विषयादिकपोषक कुज्ञानिरचित समस्त अप्रशस्त श्रुतको अभ्यास सो बहु त्रास दैन कुबोध है।

अर्थ—एकान्तवादसे दूषित, विषयादिकका पोषक, कुज्ञानियों द्वारा रचित समस्त खोटे शास्त्रोंका जो अभ्यास है वह अतिदुःखदायक कुज्ञान है।

तात्पर्य—जिन ग्रन्थोंमें एकान्तवादके दोष हैं, जो विषय कषायको सिखाने की शिक्षा दे, जो विपरीतज्ञानियोंके द्वारा रचे गये हैं उनको सच्चा जानकर अभ्यास करना सो गृहीत मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञानसे संसारके घोर दुःख भोगने पड़ते हैं।

—गृहीत मिथ्याचारित्रका स्वरूप व आत्महितकारी सन्देश—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विधि देहदाह।
आतम अनातमके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।१४।
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हितपंथ लाग।
जगजालभ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत निज आतम सु पाग।१५।

शब्दार्थ—ख्याति—प्रसिद्धि (नामवरी), विविध—नाना प्रकार के, पाग—मग्न होओ।

अन्वय—जो ख्याति लाभ पूजादि चाह धरि विविध विधि देहादाह-करन आतम अनात्मके ज्ञानहीन तनछीन करन जे जे करनी ते सब मिथ्याचारित्र त्यागि अब आतमके हितपंथ लाग। हे दौलत जगजाल भ्रमण को त्याग देहु अब निज आतम सु पाग।

अर्थ—जो प्रसिद्धि, लाभ, पूजा आदिकी चाह रखकर नाना विधियोंसे शरीर का दाह करना अथवा कष्ट का देना है व आत्मा अनात्माके विवेकसे रहित होकर शरीरको क्षीण करने वाली जो और भी क्रियायें

हैं वे सब मिथ्याचारित्र हैं उन्हें त्यागो और आत्मा के हितके मार्ग में लगो। हे दौलतराम; इस संसारजालके परिभ्रमणको त्याग दो और अब अपनी आत्मामें ही अच्छी तरह मग्न हो जाओ।

तात्पर्य- जहां आत्मस्वरूप और परस्वरूप का बोध नहीं है और नामवरी, सम्पदालाभ, पूजा, सत्कार आदिके उद्देश्यसे जो नाना तप करके शरीरको क्षीण करनेका श्रम किया जा रहा है वह सब गृहीत मिथ्याचारित्र है। अब इस सब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रको, जिसके वश होकर जन्म मरण के महा संकट सहे जा रहे हैं, त्यागो और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामें मग्न होओ। इससे समस्त संकट सदाके लिये दूर हो जावेंगे।

दूसरी ढाल समाप्त

★

तीसरी ढाल

—मोक्षमार्गमें लगनेका कारण—

आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये।

शब्दार्थ—हित—भलाई, शिवमांहि—मोक्षमें, शिवमग—मोक्षमार्ग।

अन्वय—आतमको हित सुख है, सुखसो कहिये, आकुलता बिन, आकुलता शिवमांहि न, तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये।

अर्थ—आत्माकी भलाई सुख है, सच्चा सुख वही कहा जाता है जो सुख आकुलतारहित हो। आकुलता मोक्षमें नहीं है, इसी कारण मोक्ष मार्ग में लगना चाहिये।

तात्पर्य—आत्माका परम अभीष्ट और कल्याग सुखरूप अवस्था है। यथार्थ सुखवही है जिसमें रंचभी आकुलता नहीं है। आकुलता मोक्षमें

रंच भी नहीं है और न कभी हो सकती है इसी कारण सच्चा सुख चाहनेवाले भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगना चाहिये ।

—मोक्षमार्ग व उसके भेद—

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो ।

शब्दार्थ—चरण—चारित्र, दुविध—दो प्रकार का ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है यह मोक्षमार्ग दो प्रकार से जानना चाहिये ।

तात्पर्य—सच्चा विश्वास, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण करना यही मोक्षमार्ग है अर्थात् संसारके सर्व प्रकारके संकटोंसे छूटने का उपाय है । यह मोक्षमार्ग दो प्रकारसे जाना जाता है । (१) निश्चय मोक्षमार्ग और (२) व्यवहार मोक्षमार्ग ।

—निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्गका स्वरूप—

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो ।।१।।

शब्दार्थ—सत्यारथरूप—यथार्थ, जैसे का तैसा, कारण—निश्चय का कारण ।

अर्थ—जो यथार्थ रूप है वह निश्चयमार्ग है और जो निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है ।

तात्पर्य- सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका इस ही रूपमें अभेद श्रद्धान अभेद ज्ञान व अभेद अनुष्ठान (रमण) होना सो निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो इस निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्तिके लक्ष्यसे मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वोंका श्रद्धान ज्ञान और व्रत समिति गुप्ति व तपका आचरण है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

—निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

परद्रव्यनितैं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है ।

शब्दार्थ—रुचि—श्रद्धान, प्रतीति, लगाव । भला—निश्चय ।

अन्वय - परिद्रव्यनितैं भिन्न आपमें रुचि भला सम्यक्त्व है।

अर्थ—परद्रव्योंसे भिन्न अपनी आत्मामें रुचि करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तात्पर्य—अपनी आत्मा शरीरादिक समस्त परपदार्थोंसे न्यारा है और इतना ही नहीं रागद्वेष कल्पना आदि विभावोंसे जुदा आत्मा का स्वरूप है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप है। यह स्वयं हितमय है, आनन्दमय है सो इसही में रुचि, श्रद्धा, प्रतीति होना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

— निश्चय सम्यग्ज्ञानका स्वरूप—

आपरूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ॥

शब्दार्थ · आपरूपको—आत्मस्वरूपका, जानपनो—जानना, कला—निश्चय।

अर्थ —आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

तात्पर्य –अनादि अनन्त अहेतुक परसम्बन्धसे रहित ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र आत्माका इस यथार्थरूपसें ज्ञान करना सो निश्चयसम्यग्ज्ञानहै।

—निश्चय सम्यक्चारित्रका स्वरूप—

आपरूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित्त सोई।

शब्दार्थ - लीन रहे —मग्न होना, थिर—स्थिरतासे।

अन्वय—आपरूपमें थिर लीन रहे सोई सम्यक्चारित्त।

अर्थ—आत्मस्वरूपमें स्थिरतासे लीन रहना सो निश्चय ही सम्यग्-दर्शन है।

तात्पर्य - जिस आत्मस्वरूपका निश्चयसे श्रद्धान व ज्ञान किया है उसही आत्मास्वरूपमें स्थिर हो मग्न हो जाना सो निश्चय सम्यक्-चारित्र है।

—व्यवहार मोक्षमार्गके प्रतिपादनका संकल्प—

अब व्यवहार मोखमग सुनिये हेतु नियत को होई ॥२॥

शब्दार्थ—मोखमग—मोक्षमार्ग, हेतु—कारण, नियत—निश्चय।
अन्वय—अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, नियतको हेतु होई।
अर्थ—अब व्यवहार मोक्षमार्गको सुनिये जो निश्चय मोक्षमार्गका कारण होता है।
तात्पर्य—जिस व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चय मोक्षमार्गका कारण कहा गया है उस व्यवहार मोक्षमार्गका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा, उसे सुनिये।

—व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव बन्ध रु संबर जानो।
निज मोक्ष कहे जिन तिनको ज्यों का त्यौं सरधानो।
है सोई समकित ववहारी तिनको रूप बखानों।
सुन तिनको सामान्य विशेषैं दृढ़ प्रतीति उर आनो ॥३॥

शब्दार्थ—समकित—सम्यग्दर्शन, ववहारी—व्यवहार, बखानों—कहता हूं, प्रतीति—श्रद्धान, विश्वास, उर—मन।
अन्वय—जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव बन्ध रु संवर जानो, निर्जर मोक्ष जिन कहें तिनको ज्यौं का त्यौं सरधानो सोई ववहारी समकित है, तिनको रूप बखानों, तिनको सामान्य विशेषैं सुन, उर दृढ़ प्रतीति आनो।
अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये ७ तत्त्व जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं, उनका जैसा का तैसा श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है उनका अब स्वरूप कहते हैं, उनको सामान्य व विशेष पद्धति से सुने और चित्तमें उनकी दृढ़ प्रतीति करे।
तात्पर्य—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये मोक्ष-मार्ग के प्रयोजनभूत ७ तत्त्व हैं, इनका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्-दर्शन है इनका स्वरूप क्रमसे कहा जायेगा उस सबको भूतार्थ और

अभूतार्थ पद्धतिसे उस सबकी जैसी की तैसी प्रतीति करें।

—जीव तत्त्वके भेद—

बहिरातम अन्तर आतम परमातम जीव त्रिधा है।

अर्थ—बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा इस प्रकार जीव ३ प्रकार के हैं।

—बहिरात्माका लक्षण—

देह जीवको एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है।

अर्थ—जो मूढ़ जीव देह और जीवको एक मानता है वह बहिरात्मा तत्त्व है।

तात्पर्य—जो अपने स्वरूपसे बाहरकी वस्तुको आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। देहआत्मासे जुदा है, परपदार्थ है उसे जो आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

—अन्तरात्मा के भेद—

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आतम ज्ञानी।

अन्वय—ज्ञानी अन्तर आतम त्रिविधके उत्तम, मध्यम, जघन।

अर्थ—आत्मस्वरूपके जानने वाले ज्ञानी अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा जीव ३ प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम अन्तरात्मा, (२) मध्यम अन्तरात्मा, (३) जघन्य अन्तरात्मा।

तात्पर्य—अपने आत्माके सहज अन्त:स्वरूपके जो ज्ञाता हैं वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। वे संयम की साधनासे और भी विशेष विशुद्ध हो जाते हैं, इसी कारण अन्तरात्म.के उत्तम, मध्यम व जघन्य अन्तरात्मा यों ३ भेद किये हैं।

—उत्तम अन्तरात्माका स्वरूप—

द्विविध संग बिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी ।।४।।

अन्वय—द्विविध संघ बिन शुध उपयोगी निजध्यानी मुनि उत्तम ।

अर्थ—अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित शुद्ध उपयोग वाले जो आत्मध्यानी मुनि हैं वे उत्तम अन्तरात्मा है ।

तात्पर्य—सातवें गुणस्थानसे लेकर वारहवें गुणस्थान तक के मुनिराज उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं ।

—मध्यम अन्तरात्मा—

मध्यम अन्तर आतम हैं जे देशव्रती अनगारी ।

अन्वय—जे देशव्रती अनगारी मध्यम अन्तर आतमा हैं ।

अर्थ—जो देशव्रती (प्रतिमाधारी श्रावक) हैं व मुनि (प्रमत्तविरत) हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं ।

तात्पर्य—श्रावक व छटे गुणस्थानवर्ती मुनि चूंकि प्रायः विकल्पसहित हैं, किन्तु असंयम अवस्था है नहीं इस कारण इन्हें मध्यम अन्तरात्मा कहा है ।

–जघन्य अन्तरात्मा व तीनों अन्तरात्माओंके मोक्षमार्गी होनेका कथन–

जघन कहे अविरत समदृष्टि तीनों शिवमगचारी ।।

अन्वय—अविरत समदृष्टि जघन कहे, तीनों शिवमगचारी ।

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्यअन्तरात्मा कहा है । उत्तम, मध्यम व जघन्य तीनों प्रकारके अन्तरात्मा मोक्षमार्गमें चलने वाले हैं ।

तात्पर्य—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव अव्रती हैं, किन्तु सम्यक्त्व सहित हैं अतः इन्हें जघन्य अन्तरात्मा कहा है । सम्यक्त्वसे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है इससे इन सब अन्तरात्माओंको मोक्षमार्गी कहा है ।

—परमात्माके भेद व सकल परमात्मा का स्वरूप—

सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी।
श्री अरहंत सकल परमातम लोकालोक निहारी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सकल—शरीरसहित । निकल—शरीररहित । घाति—ज्ञानावरण दर्शनावरश मोहनीय व अन्तराय ये चार घातिया कर्म । निवारी—निवारण करनेवाले याने नाश करनेवाले । निहारी—निहारने वाले याने जानने देखने वाले ।

अर्थ—परमात्मा दो प्रकारके हैं (१) सकल परमात्मा (२) निकल परमात्मा । उनमेंसे घातियाकर्मोंका नाश करनेवाले, लोकऔर अलोक के याने समस्त विश्वके जानने व देखने वाले श्री अरहंत भगवान सकल परमात्मा हैं ।

—निकल परमात्माका स्वरूप—

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महंता।
ते हैं अमल निकल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता ॥

शब्दार्थ—त्रिविधकर्म—द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म ये तीन प्रकारके कर्म, वर्जित—रहित । अमल—मलरहित याने निर्दोष । शर्म—सुख ।

अन्वय—ज्ञानशरीरी, त्रिविधकर्ममल वर्जित, अनन्ता शर्म भोगैं, महंता सिद्ध ते अमल निकल परमातम हैं ।

अर्थ—जिनका ज्ञान ही शरीर है, जो द्रव्य कर्म भावकर्म व नोकर्म तीनों प्रकारके कर्ममलसे रहित हैं, अनन्त आनन्द भोगनेवाले हैं ऐसे जो महान् सिद्ध भगवान हैं वे निर्दोष निकल परमात्मा है ।

तात्पर्य—सिद्ध भगवान आठोंकर्म से रहित हैं, समस्त विभावोंसे रहित हैं, शरीर रहित हैं, अनन्त आनन्दके भोक्ता हैं इन्हें निकल परमात्मा कहते हैं ।

—आनन्द प्राप्तिके लिये त्रिविध आत्मस्वरूपके प्रति कर्तव्य—

बहिरातमता हेय जानि तजि अन्तर आतम हूजै।

परमातमको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै ॥६॥

शब्दार्थ—बहिरात्मा—बहिरात्मापन याने मिथ्यात्व, हेय—छोड़ने योग्य।

अन्वय—बहिरातमा हेय जानि तजि अन्तर आत्म हूजै, परमातम को ध्याय जो निरन्तर नित आनन्द पूजै।

अर्थ बहिरात्मपने को छोड़ने योग्य जानकर व इसे छोड़कर अन्तरात्मा होओ तथा परमात्मस्वरूपका ध्यान करो जिससे सदाकाल निरन्तर आनन्द की प्राप्ति हो।

—अजीवका स्वरूप व अजीव के भेद—

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं।

अन्वय—चेतनता बिन सो अजीव है ताके पंच भेद हैं।

अर्थ—जो चैतन्यसे रहित है वह अजीव है, अजीव के ५ भेद हैं—पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व कालद्रव्य।

तात्पर्य—जिसपदार्थमें जानने देखने का स्वभाव ही नहीं है उसे अजीव कहते हैं ये ५ प्रकार के होते हैं।

—पुद्गल द्रव्यका स्वरूप—

पुद्गल, पंच वरन रस गन्ध दो फरस वसू जाके हैं।

शब्दार्थ—पुद्गल—जो पूरे और गले याने जिसके परमाणु मिल जायें व बिछड़ जायें, वरन—रूप, फरस—स्पर्श, वसु—आठ।

अन्वय—जाके पंच वरन, पंच रस, दो गन्ध, वसू फरस हैं, पुद्गल।

अर्थ—जिसमें ५ प्रकार के रूप ५ प्रकारके रस, दो प्रकारके गन्ध व ८ प्रकारके स्पर्श होते हैं उसे पुद्गल द्रव्य कहते।

तात्पर्य—काला, पीला, लाल, नीला व सफेद ये ५ रूप हैं। खट्टा,

मीठा, कडुवा तीखा व कषायला ये ५ रस हैं। सुगन्ध व दुर्गन्ध ये २ गन्ध हैं। रूखा, चिकना, ठण्डा, गर्म, हल्का, भारी, कोमल, कठोर ये ८ स्पर्श हैं। ये बीस परिणतियां पुद्गल द्रव्यमें होती हैं।

—धर्मद्रव्यका स्वरूप—

जिय पुद्गल को चलन सहाई धर्म द्रव्य अनरूपी।

शब्दार्थ—जिय—जीव, अनरूपी—अरूपी अर्थात् रूपरसगन्ध स्पर्श रहित याने अमूर्त।

अर्थ—जो चलते हुए जीव व पुद्गलोंके चलनेमें सहायक हैं उसे धर्म-द्रव्य कहते हैं, यह धर्मद्रव्य अमूर्तिक है।

तात्पर्य - धर्मद्रव्य जीव व पुद्गलको जवर्दस्ती चलाता नहीं है किन्तु जीव पुद्गल अपनी परिणतिसे ही चलते हैं उसी समय धर्मद्रव्य निमित्त कारण है।

—अधर्म द्रव्यका स्वरूप—

तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन मूर्ति निरुपी ॥७॥

शब्दार्थ—तिष्ठत—ठहरते हुए, जिन—जिनेन्द्र भगवान, बिनमूर्ति—अमूर्तिक, निरूपी—बताया है।

अन्वय – तिष्ठत सहाई होय, अधर्म, जिन बिन मूर्ति निरूपी।

अर्थ - ठहरते हुए जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें जो सहायक है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यको भी जिनेन्द्र भगवानने अमूर्तिक बताया है।

तात्पर्य—अपनी परिणतिमें चलते हुये जीव व पुद्गल जब अपनी परिणति से ठहरते हैं उस समय उनके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य निमित्त कारण है।

—आकाश द्रव्यका स्वरूप—

सकल द्रव्य को वास जास में सो आकाश पिछानो।

शब्दार्थ—सकल—समस्त। पिछानो—पहिचानो याने जानो।
अन्वय—जास में सकल द्रव्यको, वास सो आकाश पिछानो।
अर्थ—जिसमें समस्त द्रव्योंका निवास रहता है उसे आकाश द्रव्य जानो।
तात्पर्य यद्यपि निश्चयनयसे सभी पदार्थ अपने स्वरूपमें रहते हैं तो भी वे किस जगह हैं ऐसी जिज्ञासा होनेपर व्यवहार दृष्टिसे यह जाना जाता है कि समस्त पदार्थ आकाशमें रहते हैं।

—काल द्रव्यका स्वरूप—

नियत वर्तना निश—दिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।

शब्दार्थ—नियत—निश्चय। वर्तना—परिणमन।
अन्वय—वर्तना नियत, निश दिन सो व्यवहारकाल परिमानो।
अर्थ—जो परिणमन रूप है वह निश्चयकाल है और जो रात दिन आदि हैं उन्हें व्यवहारकाल जानो।
तात्पर्य—जो वर्तनास्वरूप है वह तो काल द्रव्य है। उसकी समय पर्याय है, इन समयों के समूहमें मिनट घन्टा दिन रात आदि व्यवहार चलता है वे सब पर्यायें व्यवहार काल हैं।

–अजीव व आस्रवके वर्णनकी सन्धि तथा आस्रवका स्वरूप और भेद–

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन वच काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरत अरु कषाय परमाद सहित उपयोगा॥ ८॥

अन्वय—यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मिथ्या अविरति, परमाद-सहित उपयोगा कषाय मन वच काय त्रियोगा।
अर्थ—इस प्रकार अजीव, तत्त्वका वर्णन हुआ अब आस्रव तत्त्वको सुनिये। मिथ्यात्व अविरति, प्रमादसहित उपयोग, कषाय व मन वचन काय ये तीन यौग ये सब आस्रव हैं।

तात्पर्य—कर्मोंके आने को आस्रव कहते हैं उसके कारणरूप भाव मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व योग हैं इन्हें आस्रव तत्त्व कहा है।

—आस्रवके त्यागका उपदेश—

ये ही आतम को दुखकारण, तातैं इनको तजिये।

अर्थ—ये आस्रव ही आत्माको दुःखके कारण हैं, इस कारण इन आस्रवों को छोड़ देना चाहिये।

तात्पर्य—मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय व योग ये आस्रव आत्मा को दुःख देने वाले हैं, इसकारण ज्ञानबल प्रयोगसे इनका त्यागकर देना चाहिये।

—बन्ध तत्त्वका स्वरूप—

जीव प्रदेश बन्धे विधिसों सो, बन्धन कबहुँ न सजिये।

शब्दार्थ—विधि—कर्म, न सजिये—न कीजिये।

अन्वय—जीवप्रदेश विधिसो बंधे सो बन्धन, कबहू न सजिये।

अर्थ—जीव के प्रदेशों का कर्मोंसे बंध जाना सो बन्धन है, ऐसा बन्धन कभी नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य—मिथ्यात्वादि भावोंके होनेसे ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीव के प्रदेश व कर्मोंका परस्पर बन्धहो जाता है। यह सम्बन्ध दुःखका कारण है इसकारण निर्विकार निज सहज चैतन्यस्वभाव रूप में अपनी प्रतीति व रति करके इस बन्धनसे दूर होनेका यत्न रखना चाहिये।

—संवर तत्त्वका स्वरूप—

शम दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।

शब्दार्थ—शम—कषायोंका शमन करना, दम—इन्द्रिय व मनको वश में रखना।

अर्थ—कषाय शमन व इन्द्रियमनसे कर्मोंका आना रुक जाना सो संवर है, इस संवर तत्त्व का आदर करना चाहिये अर्थात् धारण करना चाहिये ।

तात्पर्य—तत्त्वज्ञानके बलसे जो विषय कषायोंका परिहार हो जाता है इसी से कर्मका आस्रव रुकता है । यही संवर तत्त्व है, इसको धारण करने में ही कल्याण है ।

—निर्जरा तत्त्वका स्वरूप—

तपबल तैं विधि झरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये ॥८॥

शब्दार्थ—तप—इच्छाओंका निरोध करना, विधिझरन—कर्मों का दूर होना ।

अर्थ—तप के प्रभावसे कर्मोंके झड़जानेको निर्जरा कहते हैं, इसका आचरण करना चाहिये ।

—मोक्षका लक्षण—

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव, थिर सुखकारी ।

शब्दार्थ–शिव—मोक्ष, थिर—स्थायी ।

अर्थ—समस्त कर्मोंसे रहित जो अवस्था है वह मोक्ष है यह मोक्ष स्थाई आनन्दका करनेवाला है ।

—व्यवहार सम्यक्त्व—

इह विधि जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी ।

अन्वय—इहविधि जो तत्त्वन की सरधा सो व्यवहारी समकित ।

अर्थ—सात तत्त्वोंकी जो इस प्रकार यथार्थ श्रद्धा है वही व्यवहार सम्यक्त्व है ।

तात्पर्य–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन मोक्ष मार्ग के प्रयोजनीभूत ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यक्त्व है ।

—सम्यक्त्वके कारण—

देव जिनेन्द्र गुरु परिग्रह विन, धर्म दयाजुत सारो।
ये हु मान समकितको कारण, अष्ट अङ्ग-जुत धारो ॥१०॥

अन्वय – जिनेन्द्र देव परिग्रह बिन गुरू दयाजुत सारो धर्म यह समकित को कारण मान अष्ट अंग जुत धारो।

अर्थ जिनेन्द्र देव, परिग्रह रहित गुरू और दयामयी श्रेष्ठ धर्म इन्हें सम्यक्त्व का कारण मानो और अष्ट अंग सहित सम्यग्दर्शन को धारण करो।

तात्पर्य - सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे धर्मकी श्रद्धा सम्यक्त्व प्राप्ति के साधन हैं। इनका यथार्थ श्रद्धान करके साष्टांग सम्यक्त्वकी प्राप्ति करो।

—सम्यक्त्वके २५ दोष व ८ गुण—

वसुमद टारि निवारि त्रिशठता षट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसु दोष बिना संवेगादिक चित पागो॥
अष्ट अङ्ग अरु दोष पच्चीसों तिन संक्षेपहुं कहिये।
बिन जाने तैं दोष गुननको कैसे तजिये गहिये॥११॥

शब्दार्थ—वसु मद—आठ घमण्ड, टारि—टाल करके, निवारि—दूर करके, त्रिशठता—तीन मूढ़ता, षट—अनायतन—छह अधर्मके स्थान, संवेगादि—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि सद्गुण।

अन्वय—वसु मद टारि त्रिशठता निबारि षट् अनायतन त्यागो, शंकादिक वसु दोष बिना संवेगादिक चित पागो। अष्ट अंग अरु पच्चीसों दोष तिन संक्षेपहु कहिये, दोष गुननको विन जानेतैं (जाने विन) कैसे तजिये कैसे गहिये।

अर्थ—आठ मदोंको टाल करके, तीन मूढ़ताओं को दूर करके, छहों

अनायतनों का त्याग करो और शंका आदिक आठ दोषों से रहित होकर संवेगादिक गुणोंको चित्त में धारण करो। सम्यक्त्वके आठ अंग और पच्चीस दोष होते हैं उनका संक्षेपमें वर्णन करते हैं, क्योंकि दोष और गुणोंको जाने बिना कैसे तो दोषों का त्याग किया जायेगा और कैसे गुणोंको ग्रहण किया जायेगा।

तात्पर्य– सम्यक्त्वके आठ अङ्ग होते हैं और शंकादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता ये २५ दोष होते हैं। इनका अब क्रमसे वर्णन किया जायेगा। इनमें अङ्गोंका तो पालन करना चाहिये और दोषोंका त्याग करना चाहिये।

—निःशंकित और निःकांक्षित अङ्ग—

जिनवचमें शंका न धारि वृष, भव सुख बाञ्छा भानै।

शब्दार्थ—जिनवच—जिनेन्द्र भगवान के वचन, वृष—धर्म, भानै—नष्ट करे।

अन्वय—जिनवचमें शंका न, वृष धारि भवसुख बाञ्छा भानै।

अर्थ–जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें शंका नहीं करना सो निःशंकित अंग है, धर्म सेवन करके संसार सुखकी इच्छा नष्ट करना निःकांक्षित अंग है।

तात्पर्य जिनेन्द्र देवके शासनमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप कहा गया है उसमें सन्देह नहीं करना निःशंकित अङ्ग है और धर्मसेवन करके उसके फलमें संसार सुख नहीं चाहना सो निःकांक्षित अङ्ग है।

—निर्विचिकित्सित अङ्ग और अमूढ़दृष्टि अङ्ग—

मुनितन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै॥

शब्दार्थ–तन—शरीर, घिनावै—घृणा करना, पिछानै—पहिचान करना।

अन्वय—मुनितन मलिन देख घिनावै न, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै।

अर्थ–मुनिराजका मलिन शरीर देखकर भी घृणा न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग हैं। यथार्थ व अयथार्थ तत्त्वकी पहिचान करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

तात्पर्य- मुनितन उपलक्षणशब्द है इससे अन्य धर्मात्माको भी ग्रहण करना—किसी धर्मात्माके मलिन शरीर को देखकर घृणा न करके उनकी सेवामें रहना, अशुचि पदार्थ को देखकर घृणाकी प्रकृति न बनाना, भूख आदि उपद्रवमें कायर न होना इत्यादिसब निर्विचिकित्सित अङ्ग हैं। देव कुदेव, धर्म अधर्म, गुरू कुगुरू आदिकी सही पहिचान करके कुतत्त्वों में प्रेम नहीं करना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

—उपगूहन अथवा उपबृंहण अङ्ग—

निज गुण अरु पर औगुण ढांके वा निजधर्म बढावै।

अर्थ- अपने गुण व परके अवगुणोंको ढाकना सो उपगूहन अङ्ग है, अथवा निज गुण विकासको बढ़ाना सो उपबृंहण अङ्ग है।

तात्पर्य उपगूहन अङ्गका दूसरा नाम उपबृंहण अंग भी है। उपगूहन अङ्ग में अपने गुण व परके अवगुण प्रगट न करने की मुख्यता है और उपबृंहण अंगमें अपने गुणविकासकी मुख्यता है।

—स्थितिकरण अंग—

कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज परको जु दिढावै ॥१२॥

शब्दार्थ - चिगतै—गिरते हुए। दिढावै—दृढ़ करना।

अर्थ—काम आदि वेदना के कारण धर्मसे गिरते हुए अपने आत्माको व दूसरे आत्माको धर्ममें दृढ़ करना सो स्थितिकरण अंग है।

तात्पर्य—कामवेदनासे, असत्सङ्गसे, दरिद्रताके कष्टसे आदि किसी कारणसे खुद धर्मसे चिगरहे हों या दूसरा कोई धर्मी पुरुष धर्मसे चिग रहा हो तो ज्ञान उपदेश आदि यथाशक्ति उपायोंसे अपनेको व दूसरेको सावधान व धर्ममें स्थिरकर देना सो स्थितिकरण अंग है।

—वात्सल्य अंग व प्रभावना अंग—

धर्मीसौं गौवच्छ प्रीतिसम कर जिनधर्म दिपावै।

अन्वय—धर्मीसौं गौवच्छ सम प्रीति कर जिनधर्म दिपावै।

अर्थ—धर्मात्माके साथ गाय बछड़ेकी तरह निष्कपट प्रीतिकरना सो वात्सल्य अंग है। जैनधर्मकी उन्नति करना सो प्रभावना अंग है।
तात्पर्य—गुणप्रीतिकी पद्धतिसे धर्मात्मासे प्रेमकरना, उनके कष्ट दूर करने का यत्न करना सो वात्सल्य अंग है और ज्ञानोपदेश, तपश्चरण सदाचार आदि सत्क्रियाओंसे जैन शासनकी प्रभावना बढ़ाना सो प्रभावना अंग है।

—८ दोष—

इन गुनतैं विपरीत दोष वसु तिनको सतत खिपावैं ॥

शब्दार्थ—विपरीत—उल्टा, खिपावै—नष्ट करना चाहिये।
अन्वय—इन गुनतैं विपरीत वसु दोष, तिनको, सतत खिपावे।
अर्थ—आठ अङ्गरूप गुणोंसे उल्टे शंका आदिक आठ दोष होते हैं उनको सदा नष्ट करना चाहिये।
तात्पर्य—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य व अप्रभावना ये सम्यक्त्वके आठ दोष हैं इन्हें दूर करना चाहिये।

—आठ मद—

पिता भूप व मातुल नृप जो होय न तो मद ठानै।
मद न रूपको मद न ज्ञानको धन बलको मद भानै ॥१३॥
तपको मद न मद जु प्रभुताको करै न सो निज जानै।
मद धारै तो यही दोष वसु समकितको मल ठानै ॥

शब्दार्थ—भूप—राजा, मातुल—मामा, नृप—राजा, प्रभुता—बड़प्पन।

अन्वय—जो पिता भूप होय तो मद न ठाने, मातुल नृप होय तो मद न ठाने, रूपको मद न, ज्ञानको मद न, धनको मद नभानै, बलको मद

न भानै, तपको मद न करे, प्रभुताकोजु मद न करे सो निज जाने, मद धारै तो यही वसु दोष समकितको मन ठानै ।

अर्थ– यदि पिता या पिता का कुटुम्बी राजा हो तो उसका मद नहीं करै, मामा या मामाका कुटुम्बी राजा हो तो उसका मद नहीं करै, रूपका मद नहीं करै, ज्ञानका मद नहीं करै, धनका मद नहीं करै बलका मद नहीं करै, तपका मद नहीं करै, बड़प्पनका ऐश्वर्यंका भी मद नहीं करै । जो इन आठ मदोंको नहीं करता वही आत्माका ज्ञान करता है । यदि इन आठका मद करै तो यही ८ मद नामके दोष हैं जो सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करते हैं ।

तात्पर्य - कुलमद, जातिमद, रूपमद, ज्ञानमद, धनमद, बलमद, तपमद व प्रभुतामद ये ८ मदनामक सम्यक्त्वके दोष हैं ।

—६ छह अनायतन—

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवकी नहि प्रशंस उचरै है ।

अन्वय—कुगुरु कुदेव कुवृष सेवककी प्रशंस नहिं उचरे है ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कुगुरु, कुदेव, कुधर्म व इनके सेवकोंकी प्रशंसा नहीं करता है । यदि प्रशंसा करै तो ये ६ अनायतन नामके दोष हैं ।

तात्पर्य—कुगुरुप्रशंसा, कुदेवप्रशंसा, कुधर्मप्रशंसा, कुगुरुसेवकप्रशंसा, कुदेवसेवकप्रशंसा, कुधर्मसेवकप्रशंसा ये ६ अनायतन नामके सम्यक्त्वके दोष हैं ।

—तीन मूढ़ता—

जिन मुनि जिन श्रुत विन कुगुरादिक तिन्हैं न नमन करे हैं ।१४।

अन्वय—जिन, मुनि, जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हें नमन नकरै है।

अर्थ– जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ मुनि, जिनप्रणीत शास्त्र इनको छोड़कर अन्य कुगुरु आदिको सम्यग्दृष्टि जीव नमस्कार नहीं करता है। यदि नमस्कार करै तो ये ३ मूढ़ता है ।

तात्पर्य—देवमूढता पाखण्डमूढता व कुधर्ममूढता अर्थात् लोकमूढता ये तीन मूढता सम्यक्त्वके दोष हैं। इस प्रकार ८ शंकादिक दोष, ८ मद, ६ अनायतन व ३ मूढता ये २५ सम्यक्त्वके दोष हैं।

—अविरत सम्यग्दृष्टि की महत्ता व उदासीनता—

दोषरहित गुणसहित सुधी जे सम्यक् दर्श सजै हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं॥
गेही पै गेहमें न रचै ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है।
नगरनारिको प्यार यथा कादे में हेम अमल है॥१५॥

शब्दार्थ—सुधी—बुद्धिमान्, सजै हैं—धारण करते हैं, सुरनाथ—इन्द्र जजै हैं-पूजते हैं, नगरनारि—वेश्या, कादेमें—कीचड़में, हेम—सुवर्ण, अमल—निर्दोष।

अन्वय—जे सुधी दोषरहित गुणसहित सम्यक् दर्श सजै हैं चरितमोह-वश संजम लेश न पै सुरनाथ जजै हैं, गेही पै गेहमें न रच, ज्यों कमल जलतैं भिन्न है यथा नगरनारिको प्यार, कादे में हेम अमल है।

अर्थ—जो बुद्धिमान् दोषरहित व गुणसहित सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं उनके यद्यपि चारित्रमोह के आधीन होनेसे संयम लेश भी नहीं है, तो भी इन्द्र उन्हें पूजते हैं। यद्यपि यह अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हैं तो भी घरमें लीन नहीं होते जैसे कि कमल जलसे भिन्न है जल में लीन नहीं होता। वेश्याके प्यारकी तरह घरसे इनकी ऊपरी प्रीति है अथवा कीचड़में पड़े हुए सुवर्ण की तरह ये निर्मल हैं।

तात्पर्य—सम्यग्दर्शन होनेपर व्रत रहित अवस्थामें भी सम्यग्दर्शनके कारण आत्माकी बड़ी महिमा प्रगट होती है, फिर चारित्रवंत सम्यग्-दृष्टियों की महिमा तो बहुत ही अधिक है।

—सम्यग्दृष्टि कहां कहां उत्पन्न नहीं होते—

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष, वान भवन खंड़ नारी।
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी ॥

शब्दार्थ—षट् भू—नरककी छह पृथ्वी, वान—व्यन्तर, खंड़—नपुंसक विकलत्रय—दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय व चार इन्द्रिय जीव।

अन्वय—सम्यक् धारी प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन खंड़ नारी थावर विकलत्रय पशुमें नहिं उपजत।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमनरकको छोड़कर बाकी के ६ नरकोंमें, ज्योतिष देवोंमें, व्यन्तर देवोंमें, भवनवासी देवोंमें, सर्व नपुंसकोंमें, सर्व स्त्रियोंमें, स्थावरमें, विकलत्रयमें व पशुओंमें उत्पन्न नहीं होता है।

तात्पर्य—सम्यक्त्वमें मरणकरके जीव नीचेके ६ नरकोंमें, भवनत्रिकोंमें, समस्त नपुंसकोंमें व समस्त स्त्रियोंमें व पशुपक्षियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस पुरुषने यदि पहिले नरकायु बांधली हो पीछे विधिवत् क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह मरणकरके पहिले नरकमें ही जाता है। पहिले यिर्यञ्चायु बांध ली हो पीछे विधिवत् क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह पुरुष मरण करके भोगभूमिज पशु या पक्षी होगा। भाव यह है कि सम्यक्त्वमें मरण करके कुयोनियोंमें उत्पत्ति नहीं होती।

—सम्यक्त्व की महिमा—

तीन लोक तिहुं काल मांहि नहिं दर्शन सौ सुखकारी।
सकल धर्मको मूल यही इस, बिन करनी दुखकारी ॥१६॥

अन्वय—तीन लोक तिहुकाल मांहि दर्शनसौ सुखकारी नहिं, सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी।

अर्थ—तीनों लोक व तीनों कालमें सम्यग्दर्शनके समान सुखकारी

अन्य कुछ भी नहीं है। समस्त धर्मका मूल यही सम्यग्दर्शन है इसके बिना सब क्रियायें दुःख करने वाली है।

तात्पर्य—सम्यक्त्व होनेपर धर्मक्रियायें सफल होती हैं।

—सम्यक्त्वके बिना ज्ञान व चारित्रका मिथ्यापन—

मोक्ष महलकी परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्रा॥

शब्दार्थ—सम्यकता—समीचीनता (सत्यता)।

अन्वय—मोक्ष महलकी परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा सम्यकता न लहैं, सो हे भव्य पवित्रा दर्शन धारौ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महलकी पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान व चारित्र समीचीनताको प्राप्त नहीं होते। इस कारण हे भव्य जीवों! इस पवित्र सम्यग्दर्शनको धारण करो।

तात्पर्य-सम्यग्दर्शनके होनेपर ही ज्ञानसम्यग्ज्ञानकहलाता है व चारित्र सम्यक् चारित्र कहलाता है। इस कारण सम्यक्त्व प्राप्त करने का शीघ्र उपाय करो।

—हितभरी चेतावनी—

दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।१७।

अन्वय—हे दौल! समझ, सुन, चेत, हे सयाने! काल वृथा मत खावै। जो सम्यक् नहिं होवे, यह नरभव मिलन फिर कठिन है।

अर्थ—हे दौलतराम (छहढालाके कर्ता) समझ, सुन, चेत। हे चतुर! काल व्यर्थ मत खोओ। यदि सम्यक्त्व नही हुआ तो यह मनुष्यभव मिलना फिर कठिन है।

तात्पर्य—सम्यक्त्व नहीं हुआ, मोहममत्व ही रहा तो फिर यह मनुष्य भव मिलना कठिन है। इस कारण ऐसी चतुराई करलो जिससे सम्यक्त्व जगे और फिर भविष्यमें निकटकालमें मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त हो जाये। सम्यक्त्व मरण होनेपर यहां का पुरुष देवगतिमें ही जन्म लेगा वहां से चयकर योग्य क्षेत्रमें मनुष्य होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके साधु होकर क्षपकश्रेणि चढ़कर मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इस कारण यह नरभवका समय व्यर्थ न खोओ।

तीसरी ढाल समाप्त

★

चौथी ढाल

"सम्यग्ज्ञान का लक्षण (दोहा)"

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि सेवहु सम्यक् ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत जो प्रकटावन भान ॥१॥

शब्दार्थ– सम्यक्—सच्चा, श्रद्धा—विश्वास (श्रद्धान), अर्थ—पदार्थ, जुत—सहित (युक्त), भान—सूर्य।

अन्वय—सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि सम्यक् ज्ञान सेवहु, जो वहुधर्म जुत स्वपर अर्थ प्रकटावन भान।

अर्थ—सम्यक्दर्शन धारण करके फिर सम्यग्ज्ञान की सेवा करो जो सम्यग्ज्ञान अनेक गुणोंसे सहित स्व और पर पदार्थोंको प्रकट करनेके लिए सुर्यके समान है।

तात्पर्य—तत्त्वविचार करके सूक्ष्म सहज आत्मस्वभावकी दृष्टि करके नये विकल्पों को भी छोड़कर आत्मानुभूति करते हुए सम्यग्दर्शन

धारण करो, फिर इस ही सम्यग्ज्ञानका उपयोग बनाये रहो। यह सम्यग्ज्ञान अनन्तधर्मात्मक आत्मा और अनात्मा याने समस्त पर पदार्थों का ज्ञान करानेके लिये सूर्य के समान है।

— सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अन्तर (रोला छन्द) —

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण "श्रद्धा" 'जानि' दुहू में भेद अबाधौ॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश दीपकतैं होई॥२॥

शब्दार्थ—सम्यक्— सम्यग्दर्शन, अराधौ— समझना, अबाधौ— बाधा-रहित, युगपत्—एक ही समय।

अन्वय— ज्ञान सम्यक् साथै होय, पै भिन्न अराधौ, श्रद्धा जानि लक्षण दुहूमें भेद अबाधौ, सोई युगपत् होते हू सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारण है, जिमि दीपकतैं प्रकाश होई।

अर्थ—सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन एक ही साथ होते हैं तो भी इन्हें भिन्न स्वरूपवाला समझना। श्रद्धान तो सम्यग्दर्शन का लक्षण है और यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। यों दोनोंमें भेद बाधा रहित है। सो वे दोनों एक साथ होते हैं तो भी सम्यग्दर्शन को कारण समझिये, तथा सम्यग्ज्ञान कार्य है, जैसे कि दीपकसे प्रकाश होता है।

तात्पर्य—जिस ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है यद्यपि वह ज्ञान भी जैसे को तैसा याने सही जानता है, किन्तु स्वानुभवजगे बिना, सम्यग्दर्शन हुए बिना स्पष्टता न होनेसे उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है। वही ज्ञान सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं फिर उनका लक्षण न्यारा है। सम्यग्दर्शन तो सत्यश्रद्धान को कहते हैं और सम्यग्ज्ञान सत्य जाननेको

कहते हैं, इनमें लक्षण भेद हैं फिर भी एक साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि एक साथ रहकर भी सम्यक्त्व तो कारणरूप हैं और सम्यग्ज्ञान कार्य रूप है, जैसेकि दीपक उजलते ही प्रकाश हो जाता है सो दीपक तो कारण है और प्रकाश कार्य है सो वे दीपक और प्रकाश कारण कार्य रूप होकर भी एक साथ रहते ही हैं।

—सम्यग्ज्ञान के भेद और पहिले चार ज्ञानोंके लक्षण—

तासु भेद दो हैं परोक्ष परतछ तिन मांही।
मतिश्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतैं उपजाहीं॥
अवधिज्ञान मनपर्यय दो हैं देश प्रतच्छा।
द्रव्यक्षेत्र परिमाण लिये जानैं जिय स्वेच्छा॥३॥

शब्दार्थ—परोक्ष—इन्द्रिय और मन की सहायतासे जानना, प्रत्यक्ष—स्वयं स्पष्ट जानना, अक्ष—इन्द्रिय।

अन्वय—तासु भेद परोक्ष परतच्छ दो हैं, तिन मांही मति श्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतैं उपजाहीं, अवधिज्ञान मनपर्यय दो देश प्रतच्छ हैं, जिय द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये स्वेच्छा जानैं।

अर्थ—उस ज्ञानके परोक्ष व प्रत्यक्ष ऐसे दो प्रकार हैं, उनमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान तो परोक्ष हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं और अवधिज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इनके द्वारा यहआत्मा द्रव्य क्षेत्रका परिमाण लेकर रूपी पदार्थ को जानता है।

तात्पर्य—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं इस कारण परोक्ष ज्ञान हैं तथा अवधिज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान थोड़े क्षेत्र के, थोड़े समयके, थोड़े द्रव्य को, विकल्पको जानता है इस कारण ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष सहज कहलाते हैं।

—सकल प्रत्यक्ष का निरूपण—

सकल द्रव्यके गुण अनन्त पर्याय अनन्ता ।
जानैं एकै काल प्रकट केवलि भगवन्ता ।।

शब्दार्थ—सकल—समस्त, गुण— शक्तियां, पर्याय—परिणमन ।

अन्वय—केवलि भगवन्ता सकल द्रव्यके अनन्त गुण अनन्ता पर्याय एकै काल प्रकट जानैं ।

अर्थ—केवलज्ञानी भगवान समस्त द्रव्योंके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों को एक ही समय में (युगपत्) स्पष्ट जानते हैं ।

तात्पर्य—इसमें केवलज्ञान का स्वरूप प्रकट किया गया है कि जो समस्त द्रव्य गुण पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानता हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है ।

—ज्ञान की महिमा—

ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारण ।
यह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारन ।।४।।

शब्दार्थ—आन—अन्य (दूसरा), जरा—बुढ़ापा, मृतु—मरण ।

अन्वय—ज्ञान समान आन जगतमें सुखको कारण न, यह जन्म जरा मृतु रोग निवारन परमामृत ।

अर्थ—ज्ञानके समान और कुछ दूसरा सुखका कारण नहीं है, यह ज्ञान जन्म, बुढ़ापा मरण रूपी रोगोंके निवारण करने में (दूर करने में) परम अमृत रूप है ।

तात्पर्य—सम्यग्ज्ञान ही वास्तविक सुखको उत्पन्न करता है । सम्यग्ज्ञान होनेसे जन्म जरा मरण जैसे महा संकट खत्म हो जाते हैं ।

–ज्ञानकी महिमाके प्रसंगमें ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मनिर्जराका अन्तर–

कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन मांही त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते ॥
मुनिव्रत धार अनन्त वार ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ ॥५॥

शब्दार्थ—कोटि—करोड़ों, त्रिगुप्ति—मन वचन कायको वशमें करना, ग्रीवक—ग्रैवेयक विमान, जो १६ स्वर्ग से ऊपर है।

अन्वय—ज्ञान बिन कोटि जन्म तप तपैं जे कर्म झरैं, ते ज्ञानी के त्रिगुप्तितैं छिनमांहि सहज टरैं।

अर्थ - सम्यग्ज्ञानबिन करोड़ों जन्म भी तप तपनेसे जितने कर्म झड़ते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी के मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति इन तीन गुप्तियांके बलसे क्षणमात्रमें सहज ही टल जाते हैं।

तात्पर्य—अज्ञानमें तो कर्मनिर्जरा (कर्मोंका झड़ना) वास्तवमें होती ही नहीं है, क्योंकि कर्म तो सभी जीवोंके झड़ते हैं, उदयतो आता ही है, अज्ञानीके तपश्चरणमें कुछ और झड़ गये, किन्तु अन्य नवीन कर्म-बन्धन तो ज्यौं के त्यौं हो जाते हैं, फिर भी केवल झड़ने-झड़नेको ही तका जाय तो भी यह कहना युक्त है कि अज्ञानीके करोड़ों जन्म तप करनेसे जितने कर्म झड़ते हैं उतने ज्ञानी आत्माके त्रिगुप्तिबल तैं क्षण मात्रमें झड़ जाते हैं। इसी अन्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस जीवने मुनिव्रत धारण कर करके अनेकबार स्वर्ग से ऊपर ग्रैवेयक (वैकुण्ठ) विमानोंतक में जन्म लिया, परन्तु आत्मज्ञान न होने से रंच भी सुख न पाया, मोक्षमार्ग न पाया।

—तत्त्वाभ्यासकी प्रेरणा और आत्मदर्शन की प्रेरणा—

तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्यागि आपौ लख लीजै ॥

शब्दार्थ—संशय—ऐसा है या ऐसा, यों दो कोटिपर डोलना, विभ्रम—उल्टा ज्ञान, मोह—अनध्यवसाय (अवसुध)।

अर्थ- इस कारण, चूँकि उत्तमज्ञान बिना रंच भी वास्तविक सुख नहीं पाया जा सकता है अतः जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वका अभ्यास कीजिये और संशय, विभ्रम, मोह इन तीनों दोषोंको छोड़कर आत्माको लख लीजिये।

तात्पर्य—चूंकि आत्माके भान बिना धर्म व कल्याण नहीं इस कारण मिथ्या ज्ञानोंको टालकर आत्माका भानकर लीजिये। इसके लिये जैन शासनमें बताये हुए वस्तु स्वरूप के ज्ञानका अभ्यास कीजिये।

—प्राप्त समागमकी दुर्लभता—

यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवानी।
इह विधि गये मिलैं न सुमनि ज्यौं उदधि समानि ॥६॥

शब्दार्थ—सुकुल—उत्तम कुल, सुमनि—उत्तम रत्न, उदधि—समुद्र, समानी—समाया हुआ, गिरा हुआ।

अन्वय- यह मानुष पर्यायि, सुकुल, जिनवानी सुनिवो इह विधि गये न मिलै ज्यौं उदधि सुमनि समानि।

अर्थ—यह मनुष्यभव, उत्तमकुल, जिनवाणीका सुनना ये यों ही चले गये तो फिर मिलते नहीं, जैसेकि समुद्रमें समा गया हुआ रत्न फिर मिलता नहीं है।

तात्पर्य- उत्तम कुल वाले मनुष्य होकर जिनशासन की प्राप्ति हो जाना बहुत कठिन है। यह सब मिल गया फिर भी इस दुर्लभ समागम को विषय कषाय के भाव में ही खो दिया जाय तो फिर इस समागम का मिलना ऐसा कठिन है जैसे समुद्र में रत्न गिर जाय तो उसका मिलना कठिन है।

—ज्ञान की कार्यकारिता—

धन समाज गज बाज राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे॥

शब्दार्थ— समाज—कुटुम्ब आदि जनसमूह, गज—हाथी, बाज—घोड़ा, अचल—स्थिर।

अर्थ - धन, जनसमूह, हाथी, घोड़ा, राज्य आदि तो काम नहीं आते, ज्ञान अपने आत्माका स्वरूप है, उसके होने पर ज्ञान फिर स्थिर रह जाता है।

तात्पर्य – धन, कुटुम्ब, मित्र, वैभव हाथी, घोड़े, राजपाट आदि ये सब तो भिन्न हैं मेरे काम नहीं आते, क्षोभ के उत्पन्न होने में ही आश्रयभूत हैं, किन्तु ज्ञान आत्माका स्वरूप है, आनन्द का अविनाभावी है, ज्ञान विशुद्ध प्रकट हो जाये तो फिर वह सदा बना रहता है।

—ज्ञान प्राप्तिका कारण और उपाय की प्रेरणा—

तासु ज्ञानको कारण स्वपर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥७॥

शब्दार्थ— स्व—निज आत्मा, पर—निज आत्माके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ, विवेक—भेदविज्ञान, उर—चित्त।

अन्वय—तासु ज्ञानको कारण स्वपर विवेक वखानी, हे भव्य! कोटि उपाय बनाय ताको उर आनो।

अर्थ—उस ज्ञानका कारण स्व-पर भेद विज्ञान बताया गया है, सो हे भव्य जीवों करोड़ों उपाय बनाकर भी उस ज्ञान को हृदय में लावो।

तात्पर्य—जिस आत्म ज्ञान से समस्त संसार संकट टलते हैं उस ज्ञान के अनुभव का उपाय निज और पर में भेद विज्ञान करना है कि यह ज्ञानमात्र तो मैं हूं और शेष परभाव और पर पदार्थ सब पर हैं सो हे सत्य सुख चाहने वाले जीवो! अनेकों प्रयत्न करके इस आत्म ज्ञान

को प्राप्त करो।

—शुद्ध ज्ञानका महत्व—

जे पूरब शिव गये जांहि अब आगै जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं॥

शब्दार्थ—पूरव—पहिले, जांहि—जा रहे हैं, जै हैं—जावेंगे, ज्ञान-तनी— ज्ञान की।

अन्वय— जो पूरव शिव गये, अब जांहि, आगे जै हैं, सो सब महिमा मुनि नाथ ज्ञानतनी कहे हैं।

अर्थ—जो पुरुष पहिले मोक्ष गये हैं, इस समय जा रहे हैं, और आगे जावेंगे सो यह सारी महिमा मुनिराजों ने ज्ञान की बताई है।

तात्पर्य— स्व पर भेद विज्ञान करके जो आत्मानुभव प्राप्त कर लिया जाता है उस आत्मज्ञान की ही यह सब महिमा है कि इस ज्ञानके प्रतापसे अनन्ते ऋषिराज पहिले मोक्ष जा चुके हैं और आजकल भी अनेकों ऋषिराज योग्य क्षेत्र से मोक्ष जा रहे हैं तथा भविष्यमें अनेकों ऋषिराज मोक्ष जावेंगे।

—कल्याणमें बाधा देने वाले चाहको नष्ट करनेका उपाय—

विषय चाह दव दाह जगत जन अरनि दझावै।
तास उपाय न आन ज्ञान-घनघान बुझावै॥८॥

शब्दार्थ— दवदाह—वनकी आगका जलना, अरनि—वन, दझावै—जला रही है, घनघान—मेघों का समूह।

अन्वय—विषय चाह दवदाह जगतजन अरनि दझावै, तास उपाय आन ज्ञान घनघान बुझावै।

अर्थ—विषयों की चाह रूपी वनाग्नि की दाह संसारी जन रूपी वन को जला रही है उसके शांत करने का उपाय अन्यकोई दूसरा नहीं है, सिर्फ ज्ञानरूपी मेघों का समूहही उस चाहदवदाहको बुझा सकते हैं।

तात्पर्य—विषय की चाह रूपी आगसे सब संसारी प्राणी जल रहे हैं।

और इनको सम्यग्ज्ञान शांत कर देता है याने विषयचाह को नष्ट कर देता है।

—पुण्य पापमें हर्ष विषाद का निषेध—

पुण्य पाप फल मांहि हरख विलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि विनशै थिर नाही ॥

शब्दार्थ—उपजि—उत्पन्न हो करके, थाई—उत्पन्न हो जाता है।

अन्वय—हे भाई! पुण्य पाप फल मांहि मत हरख विलखौ। यह पुद्गल परजाय उपजि विनशै थिर थाई।

अर्थ हे भाई! पुण्य पाप के फलमें न तो हर्ष करो और न शोक करो, क्योंकि यह सारा समागम पुद्गल की पर्याय है जोकि उत्पन्न होकर नष्ट होता है फिर उत्पन्न हो जाता है।

तात्पर्य—इष्ट संयोग, इष्ट वियोग, अनिष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग ये ही तो सब पुण्य पाप के फल हैं सो ये इष्ट अनिष्ट विषय पुद्गलांके परिणमन ही तो हैं ये सब विनश्वर हैं इनके उत्पन्न होने और नष्ट होने की बात चलती रहती है फिर किसमें हर्ष करना, किसमें विषाद करना। पुण्य पापके फलमें हर्ष विवाद करना व्यर्थ है।

—सारभूत उपदेश—

लाख बातकी बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद फंद निज आतम ध्याओ ॥६॥

अन्वय—लाख बात की बात यही उर निश्चय लाओ, सकल जगदन्द फन्द तोरि निज आतम ध्याओ।

अर्थ - लाख बात की बात यही हृदय में निश्चय करो कि समस्त संसार के दन्द फन्द तोड़कर अपनी आत्मा का ध्यान करो।

तात्पर्य—सारभूत बात यही है कि सब विकल्प त्यागकर एक निज शुद्ध

आत्मस्वरूपका ही ध्यान किया जावे।

–सम्यक्चारित्र धारण करने का उपदेश और सम्यक्चारित्र के भेद–

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ़ चारित्त लीजै।
एक देश अरु सकलदेश तसु भेद कहीजै॥

शब्दार्थ—बहुरि—फिर, दिढ़—मजबूत (दृढ़), एकदेश—थोड़ा, सकलदेश— सम्पूर्ण।

अन्वय— सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ़ चारित्त लीजे, तसु एकदेश अरु सकलदेश भेद कहीजै।

अर्थ— सम्यग्ज्ञानी होकर फिर दृढ़ सम्यक्चारित्र ग्रहण कीजिये। उस सम्यक्चारित्र के एकदेश चारित्र और सकलचारित्र यों दो भेद कहे गये हैं।

तात्पर्य – सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र कहा जाता है वह दो प्रकार का है एकदेश चारित्र और सकल चारित्र। एकदेश चारित्र श्रावक के होता है और सकलचारित्र मुनि के होता है।

—अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का लक्षण—

त्रसहिंसा को त्यागि वृथा थावर न संहारै।
पर-बधकार कठोर निन्द्य नहिं वयन उचारै॥१०॥

शब्दार्थ – न संहारै—न नाश करे, पर-बध-कार—दूसरों का नाश करने वाले, निन्द्य—निन्दायोग्य।

अन्वय—त्रसहिंसा को त्यागि वृथा थावर न संहारै, परबधकार कठोर निंद्य वयन नहिं उचारै।

अर्थ—त्रसजीवोंकी हिंसाको त्यागकर व्यर्थ स्थावर जीवकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिये। दूसरोंका नाश करने वावे कठोर निन्दा योग्य वचन नहीं बोलना चाहिये।

तात्पर्य त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना और बेमतलब स्थावर जीव की हिंसा न करना सो अहिंसागुणव्रत है। जब गृहस्थ व्यापारादिक आरम्भको त्याग नहीं सकता तो उसके संकल्पी हिंसाका ही त्याग है, व्यापारादिक आरम्भ यत्नपूर्वक करता है, फिर भी उनमें जो हिंसा हो जाती है उसका इस गृहस्थ के त्याग नहीं है। जो दूसरोंका विनाश करे, कठोर हो, मर्मभेदी हो, निन्दा योग्य हो ऐसा वचन नहीं बोलने का नियम करना सो सत्याणुव्रत है।

—अचौर्याणुव्रत व ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण—

जल मृत्तिका विन और नांहि कछु गहै अदत्ता।
निजवनिता बिन सकल नार सों रहे बिरत्ता॥

शब्दार्थ मृत्तिका—मिट्टी, अदत्ता—बिना दिये हुए, वनिता—स्त्री, विरत्त—विरक्त।

अन्वय - जल मृत्तिका बिन और कछु अदत्ता न गहे, निज वनिता बिन सकल नार सों विरत्ता रहे।

अर्थ—जल और मिट्टी के सिवाय अन्य कुछ भी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण नहीं करना चाहिये। अपनी स्त्रीके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों से विरक्त रहना चाहिये।

तात्पर्य—साधारण स्थान के जल और मिट्टी को तो ग्रहण कर सकना इसके सिवाय अन्य कुछ भी बिना दी हुई चीज को ग्रहण न करने का नियम करना सो अचौर्याणुव्रत है। तथा जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ हो ऐसी अपनी स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंको कामभावसे निरखने का भी त्याग करना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। पर पुरुष का त्याग करना स्त्रियों का ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

—परिग्रह परिमाण अणुव्रत व दिग्व्रत नामक गुणव्रत का लक्षण—

अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै ।
दशदिश गमन प्रमाण ठान तासु सीम न नाखै ।।११।।

शब्दार्थ—प्रमाण—मियाद, ठान—निश्चित करके, सीम—मियाद, न नाखै—उल्लंघन न करे।

अन्वय- अपनी शक्ति विचार थोरो परिग्रह राखै, दश दिश गमन प्रमाणठान तासु सीम न नाखै ।

अर्थ—अपनी शक्ति विचार करके थोड़ा परिग्रह रखना चाहिये । दसों दिशाओं में जाने की मियाद निश्चित करके फिर उस मियाद का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।

तात्पर्य—अपने गुजारे माफिक थोड़ा परिग्रह का परिमाण करके शेष परिग्रह की चाह भी न करना सो परिग्रहपरमाणुव्रत है। अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ये ५ अणुव्रत हैं इनमें गुणवृद्धि करने के लिये ३ गुणव्रत होते हैं—१- दिग्व्रत, २- देशव्रत, ३- अनर्थदण्डव्रत । दसों दिशाओं में जाने आने की मियाद करके कि इस दिशा में इतनी दूर तक ही जाऊंगा, फिर उससे आगे न जाना सो दिग्व्रत है ।

—देशव्रतका लक्षण—

ताहू में फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा ।
गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निवारा ।।

अन्वय—फिर ताहू में ग्रामगली गृह बाग बजारा गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निवारा ।

अर्थ दिग्व्रत नियमके पश्चात उस दिग्व्रत की सीमाके भीतर गांव, गली, घर, बाग, बाजार आदि क्षेत्र में जाने आनेका परिमाण करके उसके सिवाय समस्त क्षेत्र में गमनागमन का निवारण करना ।

तात्पर्य— दिग्व्रतमें जितने क्षेत्र की मर्यादा की थी उसके भीतर घड़ी, घण्टा, दिन, महीना आदि समय के लिये किसी गली, घर, बाग, बाजार तक जाने आनेका नियम करके फिर उससे बाहर न जाना आना सो देशव्रत है।

-अपध्यान विरति और पापोपदेश विरति अनर्थदण्डव्रत का लक्षण-

काहूको धन हानि किसी जय हार न चिन्तै।
देय न सो उपदेश होय अघ बनिज कृषि तैं ॥१२॥

शब्दार्थ— अघ—पाप, बनिज—व्यापार, कृषि—खेती।

अन्वय - काहूकी धन हानि किसी जय हार न चिंतै, बनिज कृषि तैं अघ होय सो उपदेश न देय।

अर्थ - किसी की धन की हानि, किसी की जीत हारका विचार न करना चाहिये। व्यापार खेती से पाप होवे ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिये।

तात्पर्य— बिना प्रयोजन जिसमें पाप हो ऐसे कार्य को अनर्थदण्ड कहते हैं अनर्थदण्ड के त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। अनर्थदण्डव्रत ५ हैं- (१) अपध्यानविरति, (२) पापोपदेश विरति, (३) प्रमादचर्याविरति, (४) हिंसादान विरति व (५) दुश्रुति विरति। किसी का बध, बन्धन धनहानि, जय, पराजय आदि चिन्तन करना सो अपध्यान अनर्थदण्ड है उनका त्याग करना सो अपध्यानविरति अनर्थदण्डव्रत है पापोत्पादक व्यापार खेती आदि के उपदेशकरने का त्याग करना सो पापोपदेशविरति अनर्थदण्डव्रत है।

प्रमादचर्याविरति, हिंसादानविरति, दुश्रुतिविरतिअनर्थदंडव्रतका लक्षण

करि प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै॥
राग द्वेष करतार यथा कबहूं न सुनीजै।

शब्दार्थ—प्रमाद—आलस्य (अविवेक), पावक—अग्नि, न विराधै—

न नाश करे, असि—तलवार, धनु—धनुष, हिंसोपकरण—हिंसाके साधन, न लाधै—नहीं लूटना।

अन्वय—प्रमाद करि जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै असि धनु हल हिंसोपकरण दे यश नहिं लाधै, रागद्वेष करतार कथा कबहू न सुनीजै।

अर्थ—अविवेकसे अथवा बेमतलब जल, पृथ्वी, वृक्ष, अग्निका नाश न करना चाहिये। तलवार धनुष हल आदि हिंसाके साधनोंको देकर यश नहीं लूटना चाहिये। रागद्वेष करने वाली कथा कभी नहीं सुनना चाहिये।

तात्पर्य—बेमतलब जमीन कूटना, पत्ते आदि तोड़ना, पानी बिखेरना, आग जलाना बुझाना आदि तथा कुत्ता, बिल्ली, तोता आदि पालना प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है, इस अनर्थदण्डका त्याग करना सो प्रमादचर्याविरति अनर्थदण्डव्रत है। तलवार आदि हिंसाके साधनों को देना हिंसादान अनर्थदण्ड है, उसका त्याग करना सो हिंसादान-विरति अनर्थदण्डव्रत है। रागद्वेषके उत्पन्न करने वाली कामकथा कलह कथा आदि सुनना सो दुःश्रुति अनर्थदण्ड है उसका त्याग करना सो दुःश्रुतिविरति अनर्थदण्डव्रत है।

—सब अनर्थदण्डके त्याग का उपदेश—

औरहु अनरथदण्ड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै ॥१३॥

अन्वय—अघ हेतु औरहु अनरथदण्ड, तिन्हे न कीजै।

अर्थ—पापके कारणभूत और भी जितने अनर्थदण्ड हैं उन्हें भी नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य—५ प्रकार के अनर्थदण्ड कहे हैं उनके त्याग करनेका उपदेश किया गया है इसी प्रकार और भी जितने बेमतलब पापकी क्रियाएं हैं उन सबका भी त्याग करना चाहिये। सभी प्रकारके अनर्थदण्ड इन पांचोंमें से किसी न किसी में गर्भित हो जाते हैं। इस कारण अनर्थ-दण्ड ५ कहे गये हैं।

—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणऔर अर्थितसंविभाग व्रतका लक्षण—

धरि उर समताभाव सदा सामायिक करिये।
पर्व चतुष्टय मांहि पाप तजि प्रोषध धरिये।
भोग और उपभोग नियम करि ममत निवारै।
मुनिको भोजन देय फेर निज करहिं अहारै ॥१४॥

शब्दार्थ– उर—हृदय (मन), पर्व चतुष्टय—चारों पर्व (दो अष्टमी व दो चतुर्दशी), प्रोषध—एकाशन, लघु आहार उपवास, भोग—जो एकबार भोगनेमें आवे जैसे भोजन, फूल, तेल आदि, उपभोग—जो बार-बार भोगने में आवे जैसे वस्त्र आदि।

अन्वय उर समताभाव धरि सदा सामायिक करिये, पर्व चतुष्टय माहि पाप तजि प्रोषध धरिये, भोग और उपभोग नियम करि ममत निवारै, मुनिको भोजन देय फेर निज अहारै करहिं।

अर्थ– मनमें समताभाव रखकर रोज सामायिककरना चाहिये। चारों पर्वों में याने प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को ब्यापार धन्धे आदि आरंभ, पाप कार्यों को त्यागकर उपवास करना चाहिये। भोग उपभोग की मर्यादा रखकर गिनती रखकर ममत्वहटाना चाहिये। मुनिको आहार देकर फिर खुद आहार करना चाहिये।

तात्पर्य- जिनके धारण करनेसे मुनिव्रत पालन करनेकी शिक्षा मिले इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत ४ हैं—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाणव्रत व अतिथिसंविभागव्रत। सुबह, दोपहर, शाम तीनों काल विधिपूर्वक सामायिक करना व अन्य समय भी समता रखने का यत्न करना सामायिक व्रत है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशीको समस्त पापारम्भ तजकर उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। प्रोषधोपवास में प्रोषधपूर्वक उपवास होता है जैसे सप्तमी और नवमी को एकाशन व अष्टमी को उपवास, त्रयोदशी और पन्द्रस

को एकाशन व चतुर्दशी को उपवास यह उत्तम प्रोषधोपवास है यदि अष्टमी चतुर्दशी को जलमात्र ग्रहण किया तो मध्यम प्रोषधोपवास होता है। तथा यदि नीरस या अल्परस एकाशन किया तो जघन्य प्रोषधोपवास है। तीनों प्रकार के प्रोषधोपवासों में धारणा पारणा के दिन एकाशन ही होता है, भोग और उपभोगके पदार्थों का परिमाण करके बाकी शेष भोग और उपभोग का त्याग कर देना सो भोगोपभोग परिमाणव्रत है। मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि पात्रों को आहार देकर फिर भोजन करना सो अतिथिसंविभाग व्रत है।

—व्रतोंमें अतिचार (दोष) न लगानेका आदेश—

बारह व्रतके अतीचार पन पन न लगावै।
मरण समय सन्नयास धारि तसु दोष नशावै॥

शब्दार्थ अतिचार—दोष, पन—पांच, सन्नयास—समतापूर्वक मरण का नियम (समाधिमरण)।

अन्वय—बारहव्रतके पन पन अतिचार न लगावै, मरणसमय सन्नयास धारि तसु दोष नशावै।

अर्थ—१२ व्रतके पांच-पांच अतिचार नहीं लगाना चाहिये और मरण समय समाधिमरण धारण करके उसके दोष नष्ट करना चाहिये।

तात्पर्य—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत ये श्रावक के १२ व्रत कहलाते हैं। प्रत्येक व्रतके ५-५ अतिचार बताये गये हैं, व्रतोंमें उन अतिचारों को (दोषों को) नहीं आने देना चाहिये। यों निर्दोष जीवनभर व्रत धारण करके अन्तमें मरण समय में समाधिमरण धारण करना चाहिये। समाधिमरणके भी ५ अतिचार बताये गये सो उन अतिचारों को भी न आने देना चाहिये याने निर्दोष समाधिमरण करना चाहिये।

—श्रावक व्रत पालन करनेका फल—

यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलह उपजावै।
तहं तें चय नर जन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावै॥१५॥

अन्वय—यों श्रावक व्रत पाल सोलह स्वर्ग उपजावै, तहं तैं चय नर-जन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावै।

अर्थ—निरतिचार श्रावकके १२ व्रतोंका पालन करके व्रती श्रावक १६ स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं और फिर वहांसे चयकर मनुष्य जन्म प्राप्त करके मुनि होकर मोक्ष जाते हैं।

तात्पर्य—जो निर्दोष श्रावकव्रत पालनकरके अन्तसमय धर्माधीमरण करते हैं वे मरण करके १६ स्वर्ग तकके किसी स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, देव होते हैं और वहांसे आयु पूर्ण करके मनुष्यजन्म पाते हैं व मनुष्य भवमें मुनिव्रत धारण करके मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

चौथी ढाल समाप्त

*

पंचम ढाल

–भावनाओंका महत्व और भावनाओंके चिन्तवनके पूर्ण अधिकारी—

मुनि सकल व्रती बड़भागी, भवभोगनितैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई ॥१॥

शब्दार्थ—सकलव्रती—पूर्णव्रती (पांच महाव्रतोंके धारी)। बड़भागी—पुण्यवान। उपावन—उत्पन्न करनेके लिये। माई—माता। अनुप्रेक्षा—हित के अनुरूप उत्तम विचारधारा।

अन्वय—भाई! भव भोगनि तैं वैरागी बड़भागी सकलव्रती मुनि वैराग्य उपावन माई अनुप्रेक्षा चिन्तैं।

अर्थ—हे भाई! संसार और भोगोंसे विरक्त पुण्यवान महाव्रती मुनि वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये माता के समान अनुप्रेक्षाका (भावनाओं का) चिन्तवन करते हैं।

तात्पर्य—तत्त्व के बार बार चिन्तवन करनेको भावना कहते हैं। ये भावनायें वैराग्यको उत्पन्न करती हैं और पोषण करती हैं, जैसेकि माता पुत्रको उत्पन्न करती है और पोषण करती है। जिनका होनहार उत्तम है, संसार और भोगों से विरक्त हैं, ऐसे महाव्रती मुनि इन भावनाओं का भले प्रकार से चिन्तन करते हैं।

— भावनाओं का फल—

इन चिन्तन समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानैं, तब ही जिय शिवसुख ठानैं ॥२॥

शब्दार्थ—जागै—प्रकट होता है। जिमि—जैसे। ज्वलन—अग्नि। पवन—वायु। ठानै—प्राप्त करता है।

अर्थ—इन भावनाओंके चिन्तन करनेसे समताका सुख जगता है याने प्रकट होता है जैसे अग्नि वायु के लगने से प्रकट होती है। जब ही जीव आत्माको जानता है तब ही यह जीव मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

तात्पर्य—अनुप्रेक्षा याने भावना १२ प्रकार की कही गई हैं—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचि, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा (१०) लोक, (११) बोधिदुर्लभ और, (१२) धर्म। इन १२ भावनाओं के चिन्तन से समतापरिणाममें उत्पन्न होने वाला अपूर्व सुख जगजाता है जैसेकि हवाके लगनेसे अग्नि जगजाती है। इन भावनाओंके चिंतनके अनन्तर जब भी जीव अपने सहज चैतन्य स्वभाव का अनुभव करता है कि तुरन्त ही मोक्षसुखकी पहिचान कर लेता है और इस सहज स्वरूपके स्थिर अनुभवसे कुछ ही समय में मोक्षसुख प्राप्त भी कर लेता है।

—अनित्यभावनाका स्वरूप—

जोबन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—हय—घोड़ा। गय—हाथी (गज)। सुरधनु—इन्द्रधनुष। चपला—बिजली।

अर्थ—जवानी, घर, पशुधन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, मित्रजन, नौकर, इन्द्रियों के भोग ये सब क्षणमात्र ठहरने वाले हैं। जैसेकि इन्द्रधनुष व बिजली चंचल है।

तात्पर्य—वर्षाकाल में मेघों के बीच झलकनेवाला इन्द्रधनुष अथवा बिजली जैसे क्षण भंगुर हैं, क्षणमात्रमें नष्ट होने वाले हैं इसी प्रकार जवानी, घर आदि सब समागम क्षणभंगुर है। यों अनित्यताका चिंतन करना अनित्यभावना है। अनित्यभावना भाने वाले ज्ञानी के यह प्रतीति भी रहती है कि ये सब पर्यायें अनित्य हैं, किन्तु परमार्थभूत द्रव्य नित्य हैं। सो मैं परमार्थभूत आत्म द्रव्य नित्य हूं। इस नित्य आत्मस्वरूपकी उपासना में अपनी भलाई है, अनित्य समागममें लगने से अपनी बरबादी है।

—अशरण भावनाका स्वरूप—

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यौं हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई ।। ४ ।।

शब्दार्थ—सुर—देव। असुर—असुर आदि जातिके छोटे देव। खगाधिप—विद्याधरोंके राजा। हरि—सिंह।

अन्वय—सुर असुर खगाधिप जेते, ते काल दले, ज्यौं हरि मृग दले, मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, कोई मरते न बचावे।

अर्थ—देव, असुर, चक्रवर्ती आदि जितने हैं उन सबको काल नष्ट कर देता है जैसेकि सिंह हिरणको नष्टकर देता है। मणि, मंत्र, तन्त्र बहुत भी हों तो भी कोई मरनेसे नहीं बचा सकता।

तात्पर्य—इस जीवको लोकमें कोई शरण नहीं है। कितने भी उपाय किये जावें जीवको मरनेसे कोई नहीं बचा सकता। यों अशरणताका विचार करना सो अशरणभावना है। अशरणभावना भाने वाले ज्ञानी

के यह प्रतीति भी रहती है। इस आत्माको लोकमें कोई दूसरा शरण तो नहीं, किन्तु खुद ही खुदका शरण है याने खुदके सहज आत्मस्वरूप की उपासना शरण है।

—संसार भावनाका स्वरूप—

चहुंगति दुख जीव भरै हैं, परिवर्तन पंच करै हैं।
सब विधि संसार असारा, या में सुख नाहिं लगारा ॥५॥

शब्दार्थ— भरै हैं—सहते हैं। असारा—सारहीन। लगारा—थोड़ा भी (रंचमात्र)।

अन्वय—जीव चहुंगति दुःख भरै हैं, पंच परिवर्तन करै हैं, संसार सब विधि असारा, या में सुख लगारा नाहिं।

अर्थ—जीव चारों गतियोंमें दुःख सहते हैं और पंच परिवर्तन किया करते हैं। संसार सब प्रकार से असार है, इसमें सुख रंचमात्र भी नहीं है।

तात्पर्य— कर्मोंके उदयसे जीव चारों गतियों में जन्म ले लेकर क्लेश सहते रहते हैं और द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भव-परिवर्तन ऐसे पंच परिवर्तन किया करते हैं संसार में कुछ भी सार नहीं है, इसमें रंच भी सुख नहीं। यों संसारकी असारताका चिन्तन करना संसार भावना है। संसार भावना भानेवाले ज्ञानीके प्रतीति रहती है कि संसार तो असार है किन्तु आत्माका स्वयं सहज स्वरूप सारभूत है।

—एकत्व भावनाका स्वरूप—

शुभ अशुभ करमफल जेते, भोगे जिय एकहि ते ते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥६॥

शब्दार्थ—एकहि—अकेला। सुत—पुत्र। दारा—स्त्री। सीरी—साझी। भीरी—सगे।

अन्वय—जेते शुभ अशुभ करमफल, ते ते जिय एकहि भोगे, सुत दारा सीरी न होय, सब स्वारथके भीरी हैं।

अर्थ—जितने भी शुभ अशुभ कर्म के फल हैं उन उनको यह जीव अकेला ही भोगता है, उनमें पुत्र स्त्री आदिक कोई साझी नहीं होता, सब स्वार्थ के सगे हैं।

तात्पर्य— इस जीवने जो शुभ अशुभ कर्म किये उनके फलको अकेला ही भोगता है, उन फलोंके भोगनेमें कोई साझेदार नहीं होता, चाहे पूत्र स्त्री आदि कोई हों, सब अपनी अपनी गर्ज के हैं। यो चिन्तन करना एकत्व भावना है। एकत्व भावनाके यह प्रतीति भी रहती है कि मेरा जो शुद्ध एकत्व स्वरूप है, सहज आत्मस्वरूप है वह न कर्ता है, न भोगता है इस शुद्ध एकत्वकी उपासना से सब कर्म व कर्म फल नष्ट हो जाते हैं।

—अन्यत्वभावना का स्वरूप—

जल पय ज्यौं जिय तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुतरामा ।।७।।

अन्वय –जल पय ज्यौं, तिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न, भेला नहिं, तो प्रगट जुदे धन धामा सुत रामा क्यों इक मिलि ह्वै।

अर्थ पानी दूध की तरह जीव और शरीका मेल है, परन्तु वे परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं, एकमेक नहीं हैं। फिर तो प्रगटन्यारे धन, घर, पुत्र, स्त्री आदिक कैसे एक हो सकते हैं।

तात्पर्य –जीवके साथ एक ही जगह में रहने वाला शरीर भी जब न्यारा है, क्योंकि जीव चेतन है, शरीर अचेतन है, तब प्रकट न्यारे रहने वाले धन घर परिवार आदि कैसे एक हो सकते हैं। यों सर्व समागम को अपने से न्यारा भाना अन्यत्व भावना है। अन्यत्वभावना भाने वाले ज्ञानी के यह प्रतीति भी रहती है कि राग, द्वेष वितर्क विकल्पों से भी मैं न्यारा हूं मैं तो स्वयं के स्वरूपमात्र, ज्ञानानन्दमय हूं।

—अशुचि भावना का स्वरूप—

पल रुधिर राधमल थैली, कीकश वसादि तैं मैली ।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ - पल—मांस । रुधिर—खून । राध—पीव । कीकस—हड्डी । वसा—चर्वी । यारी—प्यार ।

अन्वय - पल रुधिर राधमल थैली, कीकस वसादि तै मैली, नव द्वार घिनकारी बहैं, अस देह किम यारी करै ।

अर्थ—जो देह मांस खून पीव मलकी थैली है, जो हड्डी चर्वी आदिसे मलीन है, जिसके नौ द्वारोंसे घिनावने मैल बहते हैं, ऐसे शरीरसे क्यों प्यार करता है ।

तात्पर्य—यह शरीर अपवित्र ही अपवित्र पदार्थों का पिण्ड है । इससे मैल ही मैल झरते रहते हैं ऐसे शरीर से प्रीति नहीं करनी चाहिये । ऐसी भावना भाना अशुचि भावना है । अशुचि भावना भाने वाले ज्ञानीके यह प्रतीति भी रहती है कि यह शरीर तो अशुचि है, किन्तु मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माशुचिहूं, पवित्र हूं । इस निज शुचिस्वरूपका उपासनासे संसार के सर्व संकट नष्ट हो जाते हैं ।

—आस्रव भावनाका स्वरूप—

जो योगनकी चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई ।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधवंत तिन्हें निरवेरे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—योग—मन वचन काय । चपलाई—चंचलता । घनेरे—बहुत ही (अत्यधिक) । निरवेरे—दूर करते हैं ।

अन्वय—भाई ! योगनकी जो चपलाई तातैं आस्रव हवै आस्रव घनेरे दुखकार तिन्हें बुधवन्त निरवेरे ।

अर्थ—हे भाई ! मन वचन कायकी जो चंचलता है उससे आस्रव होता है आस्रव अत्यधिक दुःखदाई हैं उन्हें बुद्धिमान पुरुष दूर करते हैं ।

तात्पर्य कषायवश मन वचन कायकी जो चंचल प्रवृत्ति है उससे

कर्मोंका आना होता है और कषायके कारण आत्मा में बन्ध जाते हैं। इन आस्रवोंसे संकट सहने पड़ते हैं, ज्ञानी पुरुष ज्ञानभावनाके बलसे इन आस्रवों को नहीं होने देता। ऐसी भावना करना आस्रवभावना है। आस्रवभावना भानेवाले ज्ञानीके यह प्रतीति भी रहती है कि मेरा आत्मस्वरूप आस्रव रहित है। निरापद आत्मस्वरूपकी उपासना से जीव आस्रव संकट से रहित हो जाता है।

—संवर भावनाका स्वरूप—

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

शब्दार्थ— विधि—कर्म। संवर—शुद्ध भाव (अशुद्ध भावों का निवारण) अवलोके—देखा।

अर्थ— जिन्होंने पुण्य पाप नहीं किया, आत्माके अनुभव में चित्त दिया उन्हीं ने कर्म का आना रोका और संवर प्राप्त कर सुख देखा याने प्राप्त किया।

तात्पर्य - जिन आत्मज्ञानी पुरुषोंने पुण्यभाव व पापभाव नहीं किया, शुद्ध ज्ञानमय आत्माके अनुभवमें उपयोग किया उन्होंने ही कर्मोंका आना और संवरभाव प्राप्त करके आत्मीय आनन्दका लाभ पाया। ऐसी भावना भाना संवर भावना है। संवर भावना भाने वाले ज्ञानी के यह प्रतीति रहती है कि मेरा आत्मस्वरूप स्वयं संवर स्वरूप है, दृढ़ सुरक्षित है। आत्मस्वरूप की उपासनासे आत्मा निरास्रव, निर्दोष हो जाता है।

—निर्जराभावनाका स्वरूप—

निज काल पाय विधि झरना, तासौं निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सो ही शिवसुख दरशावे ॥११॥

शब्दार्थ — झरना—दूर होना। सरना—बनना। खपावै—नष्ट करता

अर्थ– अपना समय पाकर जो कर्म दूर होते हैं उससे अपना काम नहीं बनता है। तपस्या के द्वारा जो कर्म नष्ट करता है वही मोक्ष सुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य—कर्मोंके बन्धे रहनेकी मियादके पूरे होनेपर कर्म झड़ते ही हैं याने उदयमें आकर निकलते ही हैं उससे अपने आत्माका हित नहीं होता। आत्मज्ञान सहित संयम के द्वारा जो कर्म नष्ट होते हैं उस कर्मक्षयसे ही जीव मोक्षका पद प्राप्त करता है। ऐसी भावनाको निर्जरा भावना कहते हैं। निर्जरा भावना भाने वाले ज्ञानी के यह प्रतीति रहती है कि मेरा आत्म स्वरूप तो ज्ञानमात्र है उसमें कर्म आदि कोई द्वैत ही नहीं है। ऐसे अद्वैत याने केवल आत्मतत्त्वकी उपासना से उपाधिरहित होकर मुक्त होकर शाश्वत आनन्दमय हो जाता है।

—लोकभावना का स्वरूप—

किनहू न करौ न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक मांहि बिन समता, दुख सहे जीव नित भ्रमता ॥१२॥

शब्दार्थ– करौ—किया। धरै—धारण किया। हरै - नष्ट किया।

अन्वय– किनहू न करौ, न धरै, को न हरै, षट्द्रव्यमयी, सो लोक मांहि जीव समता बिन नित भ्रमता दु.ख सहै।

अर्थ यह लोक किन्हीं के द्वारा न किया गया, किसीने न धारण किया, किसीने न नष्ट किया, किन्तु यह तो छह द्रव्यमय है। ऐसे लोकमें यह जीव समता परिणामके बिना सदा भ्रमण करता हुआ दु:ख सहता है।

तात्पर्य - यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्योंका समूह है। ये सब द्रव्य स्वत: सिद्ध हैं। ऐसे इस लोकको किसीने बनाया नहीं, इसे कोई मिटा नहीं सकता, इसे कोई अपने ऊपर रखे हुये नहीं है। इस बड़ी दुनियामें आत्मज्ञान के बिना, समता

परिणाम के किये बिना जीव जन्म मरण करता रहता है और क्लेश सहता रहता है। ऐसा चिंतवन करने को लोकभावना कहते हैं। लोक भावना भाने से ज्ञानी के यह प्रतीति रहती है कि मेरा लोक तो वास्तव में मेरा ही आत्मा है इसका सहज स्वरूप ज्ञान ज्योतिर्मय है इस मुक्त अन्तस्तत्व में न जन्म मरण है, न भ्रमण है, न क्लेश है। इसकी उपासना से सर्व कर्म क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

—बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप—

अन्तिम ग्रीवकलों की हद, पायौ अनन्त विरियाँ पद।
पै सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ। १३।

शब्दार्थ - ग्रीवक = १६ स्वर्ग से ऊपर के ग्रैवेयक विमान, विरियां = वार लाधौ = प्राप्त किया, दुर्लभ = कठिनता से प्राप्त होने वाला, साधौ = सिद्ध किया।

अन्वय–अन्तिम ग्रीवयकलों की हद पद अनन्त विरियां पाओं, पै सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ, निज में मुनि साधौ।

अर्थ–इस जीव ने अन्तिम ग्रैवेयक तक का पद अनन्त बार प्राप्त किया परन्तु सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को मुनि ने ज्ञानी ने अपने आत्मा में सिद्ध किया।

तात्पर्य – सम्यग्ज्ञान हितकारी और सत्य शरण है। यह बहुत कठिनता से प्राप्त होता है। अनेको पुरुषों ने द्रव्य मुनि बनकर ऊंची तपस्या करके अनन्त बार नव ग्रैवेयक में जन्म लिया, अहिमन्द्र पद पाया, पर सम्यग्ज्ञान न प्राप्त किया। इस कारण संसार संकटों का अन्त न हो सका। यों सम्यग्ज्ञान की शरण्यता व दुर्लभता का चिंतन करना बोधि दुर्लभ भावना है। बोधि दुर्लभ भावना भाने वाले ज्ञानी पुरुष के यह भी प्रतीति रहती है कि ज्ञान तो मेरे आत्मा का सहज स्वरूप है यह हष्टि करने मात्र से ज्ञान में प्राप्त

हो जाता है। जब तब विषय कषाय की प्रवृत्तियां है तब तक ही आत्मज्ञान दुर्लभ है।

—धर्म भावना का स्वरुप—

जो भाव मोह तैं न्यारे, दृगज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे ॥ ४

शब्दार्थ—दृग=सम्यग्दर्शन, व्रत=सम्यक् चारित्र, अचल=स्थिर, निहारै—देखता है (प्राप्त करता है)।

अन्वय—मोहतें न्यारे जो सारे दृग्ज्ञानव्रतादिक भाव, सो धर्म, जबै जिय धर्म धारै तब ही अचल सुख निहारें।

अर्थ—मोह से निराले जो समस्त समग्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र आदिक भाव हैं सो धर्म है। जब ही जीव धर्म को धारण करता है तब ही यह स्थिर सुख को प्राप्त करता है।

तात्पर्य– राग द्वेष मोह आदिक समस्त विकारों से रहित जो रत्नत्रय भाव है वही धर्म है। इस धर्म के धारण करने का फल शाश्वत शुद्ध आनन्द प्राप्त होना है यों धर्म के स्वरूप और महिमा का चिंतन करना धर्म भावना है। धर्म भावना भाने वाले ज्ञानी के यह प्रतीति रहती है कि यह धर्म तो मेरे आत्मा का स्वरूप है, मोहादिक विकार तो अपने स्वरूप की सुध न करने से हो जाया करते हैं, ये विकार मेरे स्वरूप से न्यारे हैं। आत्मस्वरूप की सम्हाल से समस्त विकार क्लेश रूप अधर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे आत्मा का सहजआनन्द सहज प्राप्त हो जाता है।

—मुनिधर्म का वर्णन सुनने का अनुरोध—

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानि ।१५।।

शब्दार्थ—धरिये—धारण किया जाता है, करतूत—क्रिया, उचरिये—

वर्णन करते हैं।

अन्वय—सो धर्म मुनिन करि धरिये, सो तिनकी करतूत उचरिये, हे भवि प्राणी ताको सुनिये, अपनी अनुभूति पिछानी।

अर्थ-रत्नत्रयमयी धर्म मुनिजनों के द्वारा धारण किया जाता है सो अब मुनिराजों की क्रियाओं का, सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हैं। हे भव्यजीवों! उस मुनिधर्म के वर्णन को सुनिये और अपने आत्मा के अनुभव को पहचानिये।

तात्पर्य दुर्लभ, हितकारी, शरणभूत धर्म का प्रतिपालन मुनिराज करते हें, इसकारण अब मुनिधर्म का वर्णन किया जायेगा। मुनिराजों के चारित्र का वर्णन सुनते हुए अपने अनुभवकी भी पहिचान करते रहना चाहिये। इस पद्धति से अपने विषय कषाय के अशुभ परिणमन हटेंगे, शुद्ध भाव की दृष्टि होगी, मुनि धर्म धारण का उत्साह जगेगा और निकट भविष्य में कर्ममैल से रहित शाश्वत सत्य आनन्द की प्राप्ति होगी। इसकारण पवित्र मुनिधर्म का सुनना आवश्यक है।

इति पंचम ढाल समाप्त

★★

छठी ढाल

—अहिंसा महाव्रत का स्वरूप—

षट्काय जीव न हननतैं सब बिधि दरव हिंसा टरी।
रागादिभाव निवारतैं हिंसा न भावित अवतरी॥

शब्दार्थ-षट्काय=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति, त्रस ये छह कायवाले जीव, न हननतें=हिंसा न करने से, टरी=दूरी हुई, भावित=भावहिंसा, अवतरी=हुई।

अन्वय—षट्काय जीव न हननतैं सबविधि दरब हिंसा टरी, रागादि

भाव निवारतैं भावित हिंसा न अवतरी।

अर्थ – ६ काय के जीवों को हिंसा न करने से सब प्रकार की द्रव्य हिंसा दूर हुई और रागादिक परिणाम के हटाने से भाव हिंसा भी दूर हुई।

तात्पर्य—मुनि धर्म याने मुनिराजों के चारित्र के १३ अङ्ग हैं, ५ महाव्रत ५ समिति, ३ गुप्ति। उनमें से यह पंच महाव्रत का प्रसंग चल रहा है, अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रह त्याग महाव्रत ये ५ महाव्रत हैं। इनमें से यह अहिंसा महाव्रत का स्वरूप है, छहोकाय के जो जीवों की हिंसा का पूर्णरूप से त्याग करना व रागादि विकार का हटाना सो अहिंसा महाव्रत है।

—सत्य महाव्रत व अचौर्य महाव्रत का स्वरूप—

जिनके न लेश मृषा न जल मृण हू बिना दीयो गहै।

शब्दार्थ—लेश—रंचमात्र, मृषा—झूठ, मृण—मिट्टी, गहै— लेते हैं, (ग्रहण करते हैं)।

अन्वय – जिनके लेश मृषा न, विना दीयो जल मृण हू न गहै।

अर्थ – जिन मुनिराजों के रंचमात्र भी झूठ वचन नहीं होते। वे मुनि बिना दिया हुआ जल और मिट्टी भी ग्रहक नहीं करते हैं।

तात्पर्य – रंचमात्र भी असत्य वचन न बोलने का नियम करना सो महाव्रत है बिना दिए हुए पदार्थ के ग्रहण करने का नियम करना सो अचौर्य महाव्रत है।

—ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप—

अठदस सहस विध शील धरि चिद् ब्रह्म में नित रमि रहे।१।

शब्दार्थ—सहस—हजार, विध—प्रकार।

अर्थ—मुनिराज १८ हजार प्रकार के शील को धारण करके चैतन्य मात्र आत्म स्वरूप में सदा रमण करते रहते हैं।

तात्पर्य— स्त्री, देवी, तिर्यंचिनी, चित्र आदि के सहारे मन, वचन, काय से क्रोधादि कषाय से, कृत कारित अनुमोदना आदि से विकार भाव लाना सो सब कुशील हैं ये १८ हजार प्रकार के हो जाते हैं इन सब कुशीलों का त्याग करना सो शील हैं। यों शील भी १८ हजार प्रकार के होते हैं। शील व्रत धारण करके ब्रह्म स्वरूप में आत्मस्वरूप में रहना सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

परिग्रह त्याग महाव्रत का स्वरूप

अन्तर चतुर्दश भेद बाहर संग दशधा तैं टलैं।

शब्दार्थ—अन्तर—अन्तरङ्ग, बाहर—बहिरङ्ग, संग—परिग्रह, टलैं—दूर रहते हैं।

अन्वय—चतुर्दश भेद अन्तर दशधा बाहर संगतें टलैं।

अर्थ—१४ प्रकार के अन्तरङ्ग व दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से मुनिराज दूर रहते हैं।

तात्पर्य मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद इन १४ प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रहों से दूर रहना व खेत, मकान, सोना, चांदी, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र, बर्तन इन दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना सो परिग्रह त्याग महाव्रत है।

—ईर्यासमिति का स्वरूप—

परमाद तजि चउ कर मही लखि समिति ईर्या तैं चलैं।

शब्दार्थ—परमाद—आलस्य, असावधानी, तजि—छोड़कर के, चउ—चार, कर—हाथ, मही—जमीन।

अन्वय—परमाद तजि, चउ कर मही लखि, ईर्या समिति तैं चलैं।
अर्थ—आलस्य व असावधानी दूर करके चार हाथ आगे जमीन देखकर मुनिराज चलते हैं।
तात्पर्य—सावधानी क्रिया को समिति कहते हैं। ये समिति ५ हैं—(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषण समिति (४) आदान निक्षेपण समिति (५) प्रतिष्ठापना समिति। दिन के प्रकाश में अच्छे काम के लिये निर्मल भावसे ४ हाथ आगे जमीन देखकर, जिससे जीव हिंसा न हो, चलना सो ईर्या समिति है।

—भाषा समिति का स्वरूप—

जग सुहितकर सब अहितहर श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुख चन्दतैं अमृत झरैं ॥२॥

शब्दार्थ—श्रुति = का, सुखद = सुख देने वाले।
अन्वय—जिनके मुख चन्द्र तैं जगसुहितकर, सबअहितहर, श्रुतिसुखद सब संशय हरैं, भ्रमरोगहर वचन अमृत झरैं।
अर्थ—जिन मुनिराजके मुखरुपी चन्द्रमा से जगत का हित करने वाले सबका अहित हरने वाले, कानों को सुख देने वाले, सब संशयों को टालने वाले, भ्रम रूपी रोग को दूर करने वाले वचनरुपी अमृत झरते हैं।
तात्पर्य—एसे वचन बोलना जो सब जीवों का हित करें, अहित न करें, प्रिय हों, मिथ्यात्व मोह मेटे, परिमित हों, सो भाषा समिति है।

—एषणा समिति का स्वरूप—

छ्यालीस दोष बिना सुकुल श्रावक तनें घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन पोषतैं तजि रसन को ॥

शब्दार्थ—सुकुल = उत्तम कुल वाले, अशन = आहार, तन = शरीर।
अन्वय—सुकुल श्रावक तनें घर, छ्यालिस दोष बिना, रसनको तजि

तन पोषते नहिं, तप बढ़ावन हेत अशन को लैं।

अर्थ—मुनिराज उत्तम कुलवाले श्रावक के घर ४६ दोष टाल कर, स्वाद को छोड़कर, शरीर पोषनेके लिये नहीं, किंतु तप बढ़ानेके लिये आहार ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य—उद्दिष्ट आदि १६ दातार के आधीन उद्गम दोष, धात्री दोष आदि १६ पात्राधीन उत्पादन दोष, दस भोजन दोष व ४ अङ्गा-गादि महादोष ४६ दोषों को टालकर कुलीन श्रावकके घर पर अन्त-रायटालकर विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना सो एषणासमिति है। मुनिराज सयम के साधनभूत शरीर की स्थिति के लिये आहार ग्रहण करते हैं सो वे स्वादराग से नहीं लेते, तपश्चरण संयम ध्यान की सिद्धि के लिये लेते हैं।

—आदाननिक्षेपण समिति का स्वरूप—

शुचि ज्ञान संयम उपकरण लखिके गहैं लखिके धरैं।

शब्दार्थ—शुचि = पवित्रता, शुद्धि, उपकरण = साधन।

अर्थ—मुनिराज पवित्रता याने शुद्धि ज्ञान और संयमके साधन को देख कर ग्रहण करते हैं और देखकर रखते हैं।

तात्पर्य-शुद्धि का साधन कमण्डलु है, ज्ञान का साधन पुस्तक है, संयम का साधन पिछि है। इनको देखकर उठाना जिसमें जीवहिंसा न हो और निर्जन्तु स्थान निरखकर देखकर धरना सो आदाननिक्षेपण समिति है।

—प्रतिष्ठापनासमिति का स्वरूप—

निर्जन्तु थान विलोकि तन मल मूत्र श्लेषम परिहरैं। ३।

शब्दार्थ-निर्जन्तु = जीव रहित, थान = स्थान, विलोकि = देखकर, श्लेषम = कफ, परिहरैं = छोड़ते हैं।

अर्थ—मुनिराज जीव रहित स्थान देखकर शरीर का मलमूत्र, कफ छोड़ते हैं।

तात्पर्य—जन्तु रहित प्रासुक स्थान पर मल मूत्र, कफ, थूक, पसीना आदि छोड़ना सो प्रतिष्ठापना समिति है।

—तीन गुप्तियों का स्वरूप—

सम्यक् प्रकार निरोधि मन वच काय आतम ध्यावते ।
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते ।।

शब्दार्थ—सम्यक् प्रकार—अच्छी तरह, निरोधि—रोककर, सुथिर—स्थिर, अचल, मुद्रा—मूर्ति, उपल—पत्थर।

अन्वय—मन वचन काय सम्यक् प्रकार निरोधि आतम ध्यावते। तिन सुथिर मुद्रा उपल देखि मृगगण खाज खुजावते।

अर्थ—मुनिराज मन, वचन, काय को अच्छी तरह रोककर अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। उन मुनिराजों की इस स्थिर मूर्ति को पत्थर समझकर हिरणों का समूह उनकी देह से अपनी खाज खुजाते हैं।

तात्पर्य—मुनिराज ३ गुप्तियों के धारक होते हैं। गुप्ति ३ ये हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। मन को वश करना रोकना, विकल्प न आने देना सो मनोगुप्ति है। वचन को वश करना पूर्ण मौन रहना वचनगुप्ति है। काय को वश करना, निष्कम्प रखना सो काय गुप्ति है। इन गुप्तियों के पालन से साधु के ऐसी स्थिरता होती है कि उनकी मूर्ति को पत्थर ठूंठ आदि समझकर वन के जीव हिरण आदिक उनके देह से अपनी खाज खुजाने लगते हैं।

— मुनियों के २८ मूल गुणों में ५ इन्द्रिय विजय—

रस रूप गन्ध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने ।
तिनमें न राग विरोध पञ्चेन्द्रिय जयन पद पावने ।४।

शब्दार्थ—फरस—स्पर्श, विरोध—द्वेष।

अर्थ—रस, रूप, गंध तथा स्पर्श और शब्द सुहावने हों या असुहावने हो उनमें मुनिराज न राग करते हैं न द्वेष करते हैं। इस प्रकार वे पंच इन्द्रिय विजय का पद प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य—मुनियों के मूल गुण २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक, ७ शेष गुण। जिनमें ५ महाव्रत व ५ समितियों का तो वर्णण पहिले हो चुका। यहां ५ इन्द्रिय विजय का स्वरूप कहा है। पांच इन्द्रियों के जो विजय हैं स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये सुहावने हों तो उनमें राग न करना, ये असुहावने हों तो उनमें द्वेष न करना सो इन्द्रिय विजय है।

—मुनियों के २८ मूलगुणों में ६ आवश्यक—

समता सम्हारैं थुतिउचारैं वन्दना जिनदेव को।
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम तजैं तन अहमेव को ॥

शब्दार्थ—थुति—स्तुति। श्रुतिरति—स्वाध्याय। प्रतिक्रम—प्रतिक्रमण, लगे हुए दोषों कीप्रायश्चित आदि करके शुद्धि करना। अहमेव—अहंकार ममकार।

अन्वय—समता सम्हारैं, थुति उचारै, जिन देव को नित वंदना करैं, श्रुति रति करैं, प्रतिक्रम करैं, तन अहमेव को तजैं।

अर्थ—मुनिराज समता भाव करते हैं, प्रभु की स्तुति करते हैं, प्रभु की नित्य वन्दना करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, शरीर में अहंकार ममकार को तजते हैं याने कायोत्सर्ग करते हैं।

तात्पर्य—मुनियो के ६ आवश्यक हैं समता, स्तुति, वंदना, स्वाध्याय प्रतिक्रमण व कायोत्सर्ग। किसी वस्तु में राग द्वेष न करना और समता परिणाम रखना सो समता नामक आवश्यक है। वीतराग सर्वज्ञ देवो का, चतुर्विशति तीर्थंकरों का स्तवन करना स्तुति नामक

आवश्यक है। जिनेन्द्र देवको, प्रभु को वंदना करना वंदना नामक आवश्यक है। ज्ञानवर्द्धक व वैराग्यपोषक शास्त्रों का अध्ययन करते हुये अपने आत्मा का मनन करना स्वाध्यायनामक आवश्यक है। व्रतों में कोई अतिचार लगनेपर विधिपूर्वक आलोचना प्रायश्चित्तादि करके दोष दूर करना प्रतिक्रमण नामक आवश्यक है। शरीर में ममता न रखना सो कायोत्सर्ग नामक आवश्यक है।

—मुनियों के २८ मूलगुणों में शेष ७ गुण—

जिनके न न्हौन न दंतधौवन लेश अम्बर आवरण।
भूमांहि पिछली रयनमें कछु शयन एकासन करन ।।५।।
इक बार दिनमें लें अहार खड़े अलप निज पान में।
कचलुंच करत न डरत परिषह सो लगें निज ध्यान में ।।

शब्दार्थ—न्हौन—स्नान। दंतधौवन—दतौन करना। अम्बर-वस्त्र। रयन–रात्रि। शयन–नींद लेना। एकासन–एक करवट।

अन्वय–जिनके न्हौन न, दन्तधौवन न लेश अम्बर आवरण न, पिछली रयन में भूमांहि एकासन कछु शयन करन, दिन में इक बार खड़े निज पान में अलप आहार लें, कचलुंच करते परिषह न डरत सो निज ध्यान में लेगें।

अर्थ—जिनके स्नान नहीं, दन्तधौवन नहीं, जरा भी वस्त्र आदि आवरण नहीं, जो पिछली रात में जमीन पर एक करवट से थोड़ा शयन करते हैं, दिन में एक बार खड़े होकर और अपने कर (हाथ) में अल्प आहार ग्रहण करते हैं, जो केशलोच करते हैं व परिषह से नहीं डरते हैं, ऐसे मुनिराज अपने आत्मा के ध्यान में लगते हैं।

तात्पर्य–यहां मुनियों के शेष ७ गुण कहे गये हैं:– (१) स्नान नहीं करना, (२) दतौन नहीं करना, (३) किसी भी प्रकार का वस्त्र आवरण नहीं रखना, (४) जमीन पर थोड़ा शयन करना, (५) दिन में एक बार आहार लेना, (६) खड़े होकर करपात्र में आहार लेना, (७) केशलुंच करना।

—मुनियों की समता का वर्णन—

अरि मित्र महल मसान कंचन काच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरन ॥६॥

शब्दार्थ—अरि—शत्रु। मसान—मरघट। अर्घावतारण-अर्घ उतारना। असिप्रहारण-तलवार का प्रहार।

अर्थ—मुनिराज शत्रु मित्र में, महल मरघट में, सुवर्ण कांच में, निन्दा स्तुति में अर्घ उतारने व तलवार के प्रहार में, सदा समता परिणाम रखते हैं।

तात्पर्य- मुनिराज ऐसे समताभाव वाले, हैं कि उनके लिये शत्रु मित्र, महल मरघट सुवर्ण कांच, निन्दा स्तुति, पूजा प्रहार सब एक समान है वे किसी में न राग करते हैं और न किसी में द्वेष करते हैं।

—मुनियों का तप, धर्म व रत्न—

तप तपैं द्वादश धरैं दश वृष रत्नत्रय सेवैं सदा।

शब्दार्थ—द्वादश बारह। वृष—धर्म। रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र।

अन्वय—द्वादश तप तपैं, दश वृष धरैं सदा रत्नत्रय सेवैं।

अर्थ—मुनिराज बारह प्रकार के तप तपते हैं, दश धर्म धारण करते हैं व सदा रत्नत्रयका सेवन करते हैं।

तात्पर्य—मुनिराज १२ प्रकार के तप करते हैं-(१) अनशन, (२) ऊनोदर, (३) व्रतपरिसंख्यान, (४) रस परित्याग, (५) विविक्त शय्यासन, (६) कायक्लेश, (७) प्रायश्चित, (८) विनय, (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय, (११) व्युत्सर्ग, (१२) ध्यान। मुनिराज १० प्रकारके धर्म धारण करते हैं-(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) अकिञ्चन्य, (१०)

ब्रह्मचर्य। मुनिराज ३ रत्नों का सेवन करते हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, (३) सम्यग्चारित्र।

—मुनियों का विचरण (विहार)—

मुनि साथ में वा एक विचरैं चहे नहिं भवसुख कदा।

अन्वय—मुनि साथ में वा एक विचरैं, कदा भवसुख नहिं चहैं।

अर्थ—मुनिराज कोई अन्य मुनियों के साथ में विचरण करते हैं, कोई अकेले भी विचरण करते हैं, वे कभी भी संसार सुख नहीं चाहते।

तात्पर्य—जो मुनि उत्तम संहनन के धारी हैं, विशिष्ट ज्ञानवाले हैं, दृढ़चारित्री हैं वे एकलविहारी हो सकते हैं इनको जिनकल्पी मुनि कहते हैं, शेष सब मुनि संघ में ही विचरण करते हैं इन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। दोनों ही प्रकार के मुनि संसार सुख की चाह कभी नहीं करते।

मुनियों का स्वरूपाचरण सुनने का अनुरोध व स्वरूपाचरण का महत्व

यों है सकलसंयमचरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।७।

अन्वय—यों सकल संयम चरित्र है, अब स्वरूपाचरण को सुनिये जिस होत आपनी निधि प्रगटै परकी सब प्रवृत्ति मिटै।

अर्थ—इस प्रकार सकलसंयम चारित्र है, अब स्वरूपाचरण को सुनिये, जिसके होने पर अपने आत्मा की निधि प्रगट हो जाती है और पर की प्रवृत्ति मिट जाती है।

तात्पर्य—मुनियों के चारित्र के १३ अंग, २८ मूलगुण, समताभाव १२ तप, १० धर्म रत्नत्रय, विहार के प्रतिपादन पूर्वक सकलचारित्र का वर्णन किया है। अब मुनियों का स्वरूपाचरण बताते हैं। स्वरूपाचरण की अपूर्व महिमा है, इसके प्रसाद से अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त

आनन्द, अनन्तबल आदि आत्मवैभव पूर्ण प्रकट हो जाता है और विकल्प बाधाएं सब नष्ट हो जाती हैं।

—स्वरूपाचरण का वर्णन—

जिन परम पैनी सुबुद्धि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वर्णादि अरु रागादि तैं निजभाव को न्यारा किया॥
निज माहि निज के हेतु निज करि आपको आपै गह्यों।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यौ॥८॥
जहं ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥९॥

शब्दार्थ—सुबुद्धि—भेद ज्ञान। भेदिया—जुदा-जुदा कर दिया। गुण—शक्ति। गुणी—शक्तिमान ज्ञाता—जानने वाला। ज्ञेय—जो जाना जाय। ध्याता—ध्यान करने वाला। ध्येय—ध्यान किया जाने वाला विकल्प—भेद। चिदेश—आत्मा। अभिन्न—भेद रहित। अखिन्न—खेद रहित, खण्ड रहित—न टूटने वाला। लसा—शोभायमान, प्रकाशमान।

अन्वय—जिन परम पैनी सुबुद्धि छैनी अन्तर डारि भेदिया, निजभाव को वर्णादि अरु रागादि तैं न्यारा किया। आपको निजमाहि निज के हेतु निज करि गह्यौ, गुण गुणी मझार ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय मझार कछु भेद नरह्यौ। जहं ध्यान ध्याता ध्येय को विकल्प न, बच भेद न, जहां चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्त्ता, चेतना किरिया, तहां तीनों अभिन्न अखिन्न, शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा प्रकटी, जहां तीन का दृग ज्ञान व्रत ये एकै लसा।

अर्थ—जिन्होंने बहुत तेज भेद विज्ञानरूपी छैनी को आत्मा अनात्मा

को संधि पर डाल कर आत्मा अनात्मा को जुदा जुदाकर दिया और अपनेको (आत्माको) अपने में अपने लिये अपने द्वारा ग्रहण कर लिया अब गुण गुणी में ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय में कुछ भेद नहीं रहा। जहां ध्यान ध्याता ध्येय का भेद नहीं है और न वचनों से कुछ भी कहने लायक भेद है। जहां चेतन भाव ही कर्म है, चेतन ही कर्त्ता है, चेतन ही क्रिया है। वहां कर्त्ता कर्म क्रिया ये तीनों अभिन्न हैं, अखण्डित हैं वहां तो शुद्ध उपयोग की निश्चल अवस्था प्रकट हुई है, जहां कि तीन प्रकार होकर भी दर्शनज्ञान चारित्र एकरूप ही प्रकाशमान हो रहे हैं।

तात्पर्य—प्रथम तो ज्ञानानन्दमय आत्मामें और अनात्मामें याने देह व रागादिमें भेदविज्ञान किया आत्मा तो ज्ञानानन्दभावस्वरूप है और देह व रागादिभाव अज्ञानरूप हैं, इस भेद विज्ञान से आत्मा अनात्मा को जुदा-२ कर डाला, फिर आत्मा को अनात्मासे निराला कर लिया और आत्मा को ही ग्रहण कर लिया, उपयोग में बसा लिया। अब वहां ऐसी अभेद अवस्था हो जाती है कि यह ज्ञाता है यह ज्ञेय है यह ज्ञान है इत्यादि कोई भेद प्रतिभासित नहीं होता है, भेद की बात तो दूर रही, वहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र ये तीनों विकास एक शुद्ध विकासरूप प्रकाशमान हो रहे हैं।

—स्वरूपाचरणके समय अनुभवकी स्थिति—

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।

शब्दार्थ—परमाण (प्रमाण)—वस्तुका सर्व देश ज्ञान। नय–वस्तुका एकदेश ज्ञान। निक्षेप–निर्णय का व्यवहार। उद्योत–झलक, विकल्प।

अन्वय–अनुभव में परमाण नय निक्षेपको उद्योत न दिखे।

अर्थ—स्वरूपाचरणके अनुभवमें प्रमाण नय व निक्षेपका विकल्प, भेद नहीं दिखता।

तात्पर्य— स्वरूपाचरण से जब सहज ज्ञानमय आत्मस्वरूप का

अनुभव होता है तो वहां प्रमाण, नय व निक्षेप आदि कोई विकल्प, कुछ भी द्वैत संविदित नहीं होता है।

—स्वरूपाचरणके समय ध्यान की मुद्रा—

दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो विषैं।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।

चित्पिण्ड चण्ड अखण्ड सगुण करण्ड च्युत मुनि कलनि तैं।१०॥

शब्दार्थ–आन=अन्य, साध्य=सिद्ध किये जाने योग्य, साधक=सिद्ध करने वाला, अबाधक=बाधा रहित, चित्पिण्ड=चेतन्य का पिण्ड, चण्ड=तेजस्वी, अखण्ड=खण्ड रहित, करण्ड=पिटारा, च्युत= रहित, कल=पाप।

अन्वय—सदा दृग ज्ञान सुख बल मय, मो विषै आन भाव नहिं, मैं साध्य साधक, मैं कर्म अरु तसु फलनि तैं अबाधक, अखण्ड चण्ड चित्पिन्ड, सुगुण करण्ड, पुनि कलनि तैं च्युत।

अर्थ—मैं सदा दर्शन ज्ञान सुख शक्तिमय हूँ, मुझमें अन्यभाव नहीं हैं, मैं साध्य व साधक हूँ, मैं कर्म और उसके फलों से रहित हूँ, अखण्ड तेजस्वी चित्पिण्ड हूँ, उत्तम गुणों का पिटारा हूँ और पापों से रहित हूँ।

तात्पर्य—स्वरूपाचरण भाव करते समय ज्ञानी अपने आप की ऐसी प्रतीति करता है कि मैं दर्शनज्ञानसुख शक्तिमय हूँ, अन्य सर्व पर-भावों से रहित, निष्पाप, अखण्ड तेजोमय चैतन्यस्वरूप हूँ।

—स्वरूपाचरण का प्रताप—

यौं चिन्त्य निजमें थिर भयैं तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यौ॥

शब्दार्थ—चिन्त्य=चिंतन करके, अकथ=अवक्तव्य, कहने में न आ

सकने वाला, इन्द्र—देवों का इन्द्र, नागेन्द्र—भवनवासी देवों का इन्द्र नरेन्द्र—मनुष्यों का इन्द्र, राजा चक्रवर्ती, अहमिन्द्र—१६ स्वर्ग से ऊपर के देव।

अन्वय— यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन जो अकथ आनन्द लह्यौ सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहिमन्द्र के नाहीं कह्यौ।

अर्थ—इस प्रकार अपने अद्वैत आत्मस्वरूप का चिंतन करके जो अपने में स्थिर हुए हैं उन्होंने जो अवक्तव्य आनन्द प्राप्त किया, वह आनन्द इन्द्र नागेन्द्र के भी नहीं कहा गया है।

तात्पर्य— स्वरूपाचरण के समय अपने आप में अद्वैत अन्तस्तत्त्व की अभेद उपासता से, अभेद उपयोग से जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है वह संसार के अन्य किसी पुण्यवान जीव के भी नहीं पाया जाता है। स्वरूपाचरण की उत्कृष्ट साधना से सकल परमात्म अवस्था की प्राप्ति-

तब ही शुकल ध्यानाग्नि करि चउघाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यौ केवलज्ञान करि भविलोक को शिवमग कह्यौ ॥११॥

शब्दार्थ— शुकल ध्यान—रागद्वेष रहित स्वच्छ ध्यान, घाति—आत्मा के गुणों का घात करने वाले, कानन—वन।

अन्वय—तब ही शुक्लध्यानाग्नि करि चउघाति विधि कानन दह्यौ केवल ज्ञान करि सब लख्यौ, भवि लोक को शिवमग कह्यौ।

अर्थ— उसी समय शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा उत्कृष्ट वीतराग अन्त-रात्माने ४ घातिया कर्म रूपी वन को जलाया और केवलज्ञान के द्वारा समस्त विश्व को जाना तथा भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उप-देश दिया।

तात्पर्य—जब उत्कृष्ट निर्विकल्प अवस्था का स्वरूपाचरण होता है तभी शुक्ल ध्यान के बल से चारों घातियां कर्म सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और यह परमात्मा होता हुआ केवल ज्ञान के द्वारा समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थों को जान जाता है तथा उनके वचनयोग

के और भव्य जीवो के भाग्य से दिव्य ध्वनि खिरती है जिससे भव्य जीव मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त करते हैं।

सकल परमात्म अवस्थाके अनन्तर निकल परमात्म अवस्थाकी प्राप्ति

पुन घाति शेष अघातिविधि छिनमांहि अष्टम भू वसैं।
वसु कर्म विनशै सुगुण वसु सम्यक्त्व आदिक सब लसैं॥
संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुद्ध चिद्रूप अविनाशी भये।१२।

शब्दार्थ—अघाति—जो आत्मगुणोंका तो घात न करें, किंतु आत्मगुण घातक कर्मों की सहायता करें। अष्टम भू—आठवीं पृथ्वी, आठवीं पृथ्वी के ऊपर मोक्ष स्थान। अपार=विकट, पाररहित। खार—खारा, दुःखमय। पारावार=समुद्र। अकल—देह रहित। घाति—नष्ट।

अन्वय—पुनि शेष अघाति विधि घाति छिनमांहि अष्टम भू वसैं। वसु कर्म विनशें सम्यक्त्व आदिक सब वसु सुगुण लसैं। खार अपार संसार पारावार तरितीरहिं गये, अविकार अकल अरूप अविनाशी शुध चिद्रूप भये।

अर्थ—फिर बाकी बचे हुए अघातिया कर्मों को नष्ट करके क्षणमात्रमें मोक्ष स्थान पर पहुंचते हैं। तब आठों कर्म नष्ट होने से सम्यक्त्व आदिक समस्त आठों गुण शोभायमान होते हैं अब वे प्रभु दुःखमय विकट संसार समुद्रको तरकर किनारे पहुंच गये और विकार रहित शरीररहित, रूपादि सम्बन्ध रहित, अविनाशी शुद्ध चैतन्यस्वरूप होगा।

तात्पर्य-सकल परमात्म (अरहन्त) होने के बाद वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघातिया कर्मोंके भी नष्ट हो जाने पर वे प्रभु शरीर रहित हो जाते हैं इनमें सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना, सूक्ष्म अनन्तवीर्य, निरा बाध ये आठों गुण प्रकट हो जाते हैं। ये ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म व शरीर समस्त रहित पूर्ण शुद्ध हो जाते हैं। इन्हें निकल परमात्मा कहते हैं।

—निकलपरमात्म अवस्था का वर्णन—

निज मांहि लोक अलोक गुण पर्याय प्रतिविम्बित भये ।
रहि हैं अनन्तानन्त काल तथा यथाशिव परिणये ।।

शब्दार्थ–लोक— लोकाकाशमें रहने वाले सब पदार्थ । अलोक –लोक से बाहर पाया जाने वाला केवल आकाश । प्रतिविम्बित भये– ज्ञात होते भये । परिणये-परिणत हुए ।

अन्वय–निज मांहि लोक अलोक गुण पर्याय प्रतिविम्बित भये, तथा अनन्तानन्तकाल रहि हैं यथा शिव परिणये ।

अर्थ–मोक्ष अवस्था में अपने आपमें लोक और अलोक के समस्त गुण व पर्याय ज्ञात होते भये और वहां वे सिद्ध प्रभु उसी प्रकार अनन्तानन्तकाल तक रहेंगे जैसे कि ये मोक्ष में परिणत हुए हैं ।

तात्पर्य—समस्त पदार्थ तो सकल परमात्म अवस्था में ज्ञात हो गये थे सो अब निकल परमात्म अवस्था में भी ज्ञात हो रहे हैं और अब तो सर्व कर्म रहित देह रहित सर्वथा शुद्ध हो गये हैं इसी प्रकार वे अनन्तानन्तकाल तक याने सदा रहेंगे ।

—आत्मसंशुद्धि करने वाले जीवों का धन्यवाद व साधुवाद—

धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया ।
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ।१३।

अन्वय–धनि धन्य हैं, जो जीव नरभव पाय यह कारज किया, तिन ही अनादि पंच प्रकार भ्रमण तजि वर सुख लिया ।

अर्थ–वे जीव धन्य हैं जिन्होंने मनुष्य भव पाकर के यह आत्मा का कार्य किया है, उन्हीं जीवों ने अनादि से चले आये हुए ५ प्रकार के परिवर्तनों को छोड़कर उत्तम सुख प्राप्त किया है ।

तात्पर्य–जिन जीवों ने समस्त पर पदार्थों को त्यागकर रागादि रहित आत्मस्वरूप के अभेद ध्यान के बल से सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त को और सिद्ध अवस्था पाकर सदा के लिये संकटों से छुटकारा पाया आनन्दमय हुये वे ही जीव धन्य हैं और उपासनीय हैं।

–रत्नत्रय के धारण का फल व आत्मकल्याण करने का अनुरोध–

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भाग रत्नत्रय धरैं।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुयश जल जगमल हरैं॥
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै तबलौं झटिति निजहित करौ।१४।

शब्दार्थ—मुख्य = निश्चय। उपचार = व्यवहार। सुयश = गुण कीर्तन झटिति—जल्दी ही।

अन्वय—बड़भाग यों मुख्योपचार दुभेद रत्नत्रय धरैं अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश जल जगमल हरैं। इमि जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरौ, जबलौ राग जरा न गहै तबलों झटिति निज हित करो।

अर्थ—जो बड़भागी पुरुष इस प्रकार निश्चय व्यवहार दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं और धारण करेंगे वे मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा उनका गुण कीर्तन रूपी जल संसार के मैल को हरता है, दूर करता है। हे आत्मन ! ऐसा जान कर आलस्य त्याग कर साहस करके यह शिक्षा ग्रहण करो कि जब तक रोग व बुढ़ापे ने तुम्हें नहीं पकड़ा तब तक जल्दी ही आत्मा का कल्याण कर लो।

तात्पर्य–व्यवहार रत्नत्रय के उपाय से निश्चय रत्नत्रय को जो धारण करते हैं अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं और वे तो मोक्ष प्राप्त करके सदाके लिये आनन्दमय हो ही जाते हैं, किन्तु जो भव्य जीव उनके

इस हितकारी कार्य का, स्वरूपका कीर्तन करते हैं वे संसार का मल, संसार का संकट दूर कर लेते हैं। ऐसा जानकर प्रमाद छोड़कर शीघ्र आत्महितका यह हितरूप कार्य जल्दी ही कर लो, क्योंकि अभी स्वस्थता है, अन्यथा रोगोंने घेर लिया, बुढ़ापे ने ग्रस लिया तो विवश हो जावोगे। यदि रत्नत्रय की धारणा कर लोगे और फिर रोग बुढ़ापा भी आवेंगे तब भी अपने हित का निर्वाह कर लोगे।

—अन्तिम शिक्षा—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजै विषय कषाय अब तो त्यागि निज पद वेइये।
कहा रच्यौ पर पदमें न तेरो, पद यहै क्यौं दुख सहै।
अब "दौल" होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूको यहे ॥५॥

शब्दार्थ–समामृत–समतारूपी अमृत। सेइये–सेवन कीजिये। वेइये–प्राप्त कीजिये। दाव–मौका।

अन्वय—यह राग आग सदा दहैं तातैं समामृत सेइये, विषय कषाय चिर भजै, अब तो त्यागि निज पद वेइये। पर पदमें कहा रच्यौ, यहे पद तेरो न, क्यों दुःख सहे हे दौल अब स्वपद रचि सुखी होउ, यहे दाव मत चूको।

अर्थ—यह राग रूपी आग जीव को सदा जलाती रहती है, इस समतारूपी अमृत का सेवन करो, पान करो। विषय कषायोंको चिरकाल तक भोगा, अब तो उन्हें त्यागकर अपना सहज पद प्राप्त कीजिये। हे आत्मन् ? पर पदमें क्या रम रहा, यह पद तेरा कुछ नहीं है, क्यों दुःख सहता है ? हे दौलतराम ! अब अपने में स्व–रूप में रम कर सुखी होओ यह मौका मत चूको।

तात्पर्य—हे आत्मन् तू रागादि विकारों के कारण बरबाद होता चला आ रहा है इस कारण रागद्वेषादि विकारो को छोड़ दो और

समता परिणाम रख। विषय कषाय तो अब तक भोगते आये उनमें क्लेश ही क्लेश पाया, क्यों न क्लेश पाता, विषय कषाय तेरे पद ही नहीं, स्वरूप ही नहीं है। अब सिषय कषायों का त्याग कर सर्व विकल्प छोड़कर अपने सहज ज्ञानानन्द स्वरूपमें रमकर सदा के लिये सर्व संकटों से छूट जाओ, आनन्दमग्न हो जाओ। ऐसा उत्तम नरभव, ज्ञान समागम मिलना दुर्लभ है इस मौके का पूरा लाभ उठावों।

छठी ढाल समाप्त

* * *

छहढाला का सार

पहली ढाल—यह जीव अनादिकाल से दुर्गतियों से जन्म मरण करके दुःख भोगता है। अनन्तकाल तो यह जीव निगोदमें जन्मा और मरा। वहां से निकला तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पञ्चेन्द्रिय हुआ सो यों तिर्यंच गति में भटकता रहा। वहां संक्लेशों से मरा सो नरक गतिमें जन्म लिया सो वहां घोर दुःख सहे। कदाचित् सुयोग से मनुष्यगति में जन्म लिया तो वहां भी अनेक दुःख भोगे। कभी देवगतिमें जन्मा तो वहां भी सम्यक्त्व के बिना दुःख भोगे और एकेन्द्रिय तक में भी जन्म लिया यों संसार के परिवर्तन पूरे करता रहा। इस ढाल में चतुर्गति के दुःख का वर्णन है।

दूसरी ढाल—यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र के वशीभूत होकर जगत में भटकता रहता और जन्म मरणके दुःख भोगता रहा। इस कारण इन तीनों मिथ्याभावों को छोड़ देना चाहिये। इस ढाल में अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान, अगृहीत मिथ्या-

चारित्र गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान, गृहीत मिथ्याचारित्र के स्वरूप का वर्णन है।

तीसरी ढाल–आत्मा का हित विशुद्ध आनन्द है और वह मोक्ष में ही होता है इस कारण आत्महित चाहने वालोंको मोक्षमार्ग में लगना चाहिये। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का होना सो मोक्षमार्ग है, इन तीनों को निश्चयरूप व व्यवहाररूप यों दो प्रकारों में बताया गया है। आत्मस्वरूप के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। सात तत्वों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मस्वरूप के जानने को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ७ तत्वों के ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं, आत्मा में स्थिरता से लीन होने को निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। अणुव्रत, महाव्रत रूप से संयम धारण करने को व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते हैं। इस ढाल में सम्यक्दर्शन का दोष रहित व गुणसहित स्वरूप व माहात्म्य बताया गया है।

चौथी ढाल-इसमें सम्यग्ज्ञान के स्वरूप और भेद व महत्व का वर्णन करके श्रावकके १२ व्रतोंका वर्णन करते हुए यह शिक्षा दी है कि सार भूत बात यहहै कि आत्माका यथार्थ ज्ञान और ध्यान करना चाहिये। एतदर्थ निरारम्भ व निष्परिग्रह होकर आत्मसाधना करना चाहिये किंतु जो पुरुष निरारम्भ निष्परिग्रह मुनिका व्रत धारण न कर सके उन्हें श्रावकके ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ व्रत कापालन करना चाहिये जो निर्दोष रूपसे श्रावकके १२ व्रतोंका पालन करता है वह १६ स्वर्गोंतक में जन्म लेता है और वहां से मरणकर मनुष्यभव पाकर मुनिव्रत धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पांचवी ढाल–समता का अपूर्व आनन्द पाने के लिये अनित्य, अशरण, संसार एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि-दुर्लभ व धर्म इन १२ भावनाओं का चिंतन करना चाहिये। इन १२

भावनाओं का चिंतन करने से वैराग्य उत्पन्न होता है जिससे कि समता का आनन्द प्रकट होता है। इस ढाल में १२ भावनाओं का स्वरूप कहा गया है।

छठी ढाल— सम्यक्चारित्र की पूर्णता मुनि ही कर सकते हैं सो ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति का पालन करके मुनि के २८ मूल गुणों को धारण करके सकल संयमी बनना चाहिये और फिर अपने निर्विकल्प, अविकार सहजानन्द स्वरूप आत्म तत्व में अभेदरूप से लीन होकर निर्विकल्प होना चाहिये। इस निर्विकल्प ध्यान के प्रताप से ४ घातिया कर्मों का घात होने पर अरहन्त अवस्था प्रगट होती है जहां अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तबल प्रगट होती है। पश्चात शेष अघातियां कर्मों का भी नाश हो जाने पर मोक्ष अवस्था प्रकट होती है। मोक्ष होने पर ऐसी शुद्ध पूर्णज्ञानानन्द दशा सदाकाल रहेगी। इस ढाल में मुनिव्रत, उत्कृष्ट स्वरूपाचरण व मोक्ष अवस्था का वर्णन करके आत्महित के अर्थ मोक्षमार्ग में लगने का अनुरोध किया है।

***
**
*

भेद विवरण

अघातिया कर्म—वेदनीय, आयु नाम व गोत्र कर्म।

अङ्ग—निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सत, अमूढदृष्टि, उपगुहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

अचेतन (अजीव) द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, व काल।

अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, और परिग्रहपरिमाणुव्रत।

अतिचार—बारह व्रतों के प्रत्येक ५-५ अतिचार।

अनर्थ दण्ड-पापोपदेश, हिन्सादान, अपध्यान, दुःश्रुति व प्रमादचर्या।

अनायतन-कुगुरू, कुदेव, कुधर्म, कुगुरू सेवक, कुदेव सेवक, कुधर्म सेवक

अनुप्रेक्षा-(भावन)-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म भावना।

अन्तरंग परिग्रह—मिथ्यात्व १, कषाय ४, नोकषाय ६।

आकाश—लोकाकाश, अलोकाकाश।

आवश्यक—समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग।

इन्द्रिय विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द।

उपकरण—शुचि, उपकरण, ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण।

उपयोग—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग।

कर्म—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, या पुण्यकर्म, पापकर्म।

काय-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय

काल—निश्चयकाल, व्यवहारकाल अथवा भूत, भविष्य, वर्तमान।

कुधातु—रस, रक्त, वीर्य, मल, मज्जा, मांस, हड्डी।

गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत।

गुप्ति—मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति।

घातिया कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय।

छयालीस दोष-दाताके आश्रित १६ उद्गम दोष पात्रके आश्रित १६ उत्पादन दोष व आहार सम्बन्धी १४ दोष।

जीव (आत्मा)—वहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा।

ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान।

ज्ञान दोष—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय।

तप-अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्त शय्याशन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग।

तत्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

देव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक।

देश प्रत्यक्ष—अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान।

द्रव्य— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

धर्म—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य।

नय— निश्चयनय, व्यवहारनय अथवा द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय अथवा नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र। शब्दनय, समभिरूढ़ व एवं भूतनय।

नरक—धम्मा, वशा, मेघा, अजन्ता, अरिष्टा, मघवा, माघवी अथवा रत्न प्रभा, शर्कराप्रभा, बालूकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा, महातमःप्रभा।

निक्षेप—नाम, स्थापना, द्रव्य व भावनिक्षेप।

निर्जरा—सविपाक व अविपाक निर्जरा अथवा सकाम व अकाम निर्जरा।

परिवर्तन— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भावपरिवर्तन।

पर्व—अष्टमी और चतुर्दशी।

प्रमाण— प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष—एकदेश (विकल) प्रत्यक्ष, सर्वदेश (सकल) प्रत्यक्ष।

प्रमाद-विकथा ४, कषाय ४, इन्द्रिय विषयवशता ५, निद्रा १, स्नेह १।

बहिरङ्ग परिग्रह— क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य, सुवर्ण, धन धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांड।

भवनत्रिक— भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी।

भुवन (लोक)—उर्द्धलोक, मध्यलोक, अधोलोक।

मद—ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपोमद शरीरमद।

महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रहत्याग महाव्रत।

मिथ्यात्व—गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्व। अथवा एकान्तमिथ्यात्व

संशयमिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व विनय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व।
मुनि के मूलगुण—मुनि के २८ मूलगुण होते हैं।
योग—मनोयोग, वचनयोग, काययोग।
रत्नत्रय - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र।
रोगत्रय--जन्म, जरा, मृत्यु।
वनस्पति—प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति।
विकथा—स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा, राजकथा।
विकलत्रय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय।
वैमानिक—कल्पोपपन्न व कल्पन्नतीत।
श्रावकव्रत—अणुव्रत ५, गुणव्रत ३, शिक्षाव्रत ४।
शिक्षाव्रत-सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथि-संविभाग व्रत।
स्थावर—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक।
सिद्धगुण—सम्यक्त्व, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहन सूक्ष्मत्व, वीर्य निराबाध।
शठता (मूढता)—देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता, पाखण्डिमूढ़ता।
सम्यक्चारित्र—एकदेशचारित्र व सकलदेशचारित्र।
हिंसा भावहिंसा, द्रव्यहिंसा।

अन्तर प्रदर्शन

अणुव्रत व महाव्रत में अन्तर—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पांच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और इनका सम्पूर्ण रीति से त्याग कर देना महाव्रत है।

अतिचार व अनाचार में अन्तर—अतिचार में तो व्रत का थोड़ा भङ्ग होता है, किन्तु अनाचार में व्रत का पूरा विनाश हो जाता है।

अनायतन व मूढ़ता में अन्तर - अनायतन में तो कुतत्त्वों की

प्रशंसा होती है, किन्तु मूढ़ता में मूढ़ता के कारण कुतत्वों की व रूढ़ि की पूजा उपासना की जाती है।

अन्तरङ्ग परिग्रह व बहिरङ्ग परिग्रह में अन्तर—जीव के विकार भाव तो अन्तरङ्ग परिग्रह है व विकार के आश्रयभूत बाहिरी पदार्थ बहिरङ्ग परिग्रह कहलाते हैं।

आस्रव व बन्ध में अन्तर–आत्मा में कर्मों का अपना आस्रव है व आत्म प्रदेशों से कर्मों का बन्ध जाना बन्ध है।

आस्रव व संवर में अन्तर—आस्रव तो कर्म के आने को कहते हैं व संवर कर्मों के आने के अभाव को कहते हैं।

एकत्वभावना व अन्यत्व भावना में अन्तर—आत्मा के एकपने (अकेलेपन) का विचार करना एकत्व भावना है शरीरादिक बाह्य पदार्थों की आत्मासे भिन्नता का विचार करना सो अन्यत्व भावना है।

गुणव्रत व शिक्षाव्रत में अन्तर–जो व्रत अहिंसाणुव्रत। ५ अणुव्रतों की वृद्धि करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं व जिनसे मुनिव्रत पालनकी शिक्षा मिलें उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

घातियाकर्म व अघातिया कर्म में अन्तर—घातियाकर्म तो आत्मा के ज्ञानादि गुणको घातते हैं व अघातिया कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुण को तो नहीं घातते हैं, किन्तु शरीरादि साधन बनाकर सूक्ष्मत्व आदि गुणों को प्रकट नहीं होने देते।

चेतन और अचेतनमें अन्तर—चेतन द्रव्य में तो ज्ञान दर्शन है, किन्तु अचेतन में ज्ञान दर्शन नही हैं।

जाति व कुल में अन्तर—जाति तो माता के वंश को कहते हैं (नाना के वंश को)। कुल पिता के वंश को कहते हैं।

द्रव्य कर्म, भावकर्म व नोकर्म में अन्तर—द्रव्यकर्म अचेतन ज्ञानावरणादिक ८ कर्म हैं, भावकर्म रागादिक विकार हैं व नोकर्म

विकार के आश्रयभूत शरीरादिक बाह्य पदार्थ हैं।

द्रव्यहिंसा व भावहिंसा में अन्तर-शारीरिक प्राणी का घात करना द्रव्यहिंसा है व रागादि विकार करके आत्मा के ज्ञान दर्शन प्राण का घात करना भावहिंसा है।

दिग्व्रत व देशव्रत में अन्तर–जीवन पर्यन्त आने जाने की मर्यादा रखने को दिग्व्रत कहते हैं और दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर और भी कम मर्यादा कुछ काल तक रखने को देशव्रत कहते हैं।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य में अन्तर— जीव व पुदगलों के गमन में सहायक धर्मद्रव्य है व ठहरने में सहायक अधर्म द्रव्य है।

धर्म व धर्मभावना में अन्तर–धर्म में तो अपने स्वभाव के अनुकूल कर्तव्य का पालन है और धर्मभावना में उस धर्म पालन का बार-बार चिन्तन है।

निश्चयकाल व व्यवहारकाल में अन्तर—निश्चयकाल तो प्रत्येक कालाणु (काल द्रव्य) है व काल द्रव्य की समय नामकी पर्याय व घड़ी घन्टा आदि समय व्यवहार काल है।

नय व प्रमाण में अन्तर-प्रमाण तो समस्त धर्मयुक्त वस्तु का ज्ञान प्रमाण है और उसमें से विवक्षित धर्म को जानना नय है।

नय व निक्षेप में अन्तर—नय से वस्तु का ज्ञान होता है व निक्षेप से वस्तु का कथन व्यवहार होता है।

निश्चय व व्यवहार में अन्तर—निश्चय तो वस्तु में उसी वस्तु के धर्म (गुण पर्याय) को बताता है और व्यवहार पर निमित्त से व पररूप कथन करता है।

परिग्रह परिमाणव्रत व भोगोपभोग परिमाणव्रत में अन्तर-परिग्रह परिमाणव्रतमें दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण जो कर लिया जाता है उसमें भी भोग और उपभोग की वस्तुओं का और भी कम परिमाण

करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है।

प्रत्येक और साधारण में अन्तर—जिस शरीर का अधिष्ठाता (स्वामी) एक ही जीव हो उसे प्रत्येक शरीर कहते हैं और जिस शरीर के स्वामी अनेक जीव हों उसे साधारण शरीर कहते हैं।

यम व नियम में अन्तर—आजीवन भोगोपभोग का त्याग करना यम है, कुछ समय पर्यन्त भोगोपभोग का त्याग करना नियम है।

वहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मामें अन्तर—जो ब्राह्य पदार्थ (शरीर) को जीव माने सो वहिरात्मा है, जो अपने अन्दर आत्माको माने सो अन्तरात्मा है, जो आत्मा उत्कृष्ट गुण विकास वाला व सर्व दोष रहित हो गया है वह परमात्मा है।

शुभोपयोग व शुद्धोपयोग में अन्तर—जिस उपभोग में धर्मसम्बन्धित अनुराग हो उसे शुभोपयोग कहते हैं और सर्व प्रकार के रागादि से रहित जानन मात्र भाव को शुद्धोपयोग कहते हैं।

सकल परमात्मा व निकल परमात्मा में अन्तर—जो परमात्मा शरीर सहित हैं वे सकल परमात्मा अर्थात् अरहन्त कहलाते हैं, जो परमात्मा शरीर रहित हो गये हैं वे निकल परमात्मा अर्थात् सिद्ध कहलाते हैं।

स्थावर व त्रस में अन्तर–जिन जीवों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें स्थावर जीव कहते हैं और जिनके दो या दो से अधिक इन्द्रिय होती हैं उन्हें त्रस जीव कहते हैं।

सामान्य व विशेष में अन्तर—जो धर्म अनेक पदार्थों के समानरूप से रहे उसे सामान्य कहते हैं तथा जो धर्म किसी पदार्थ में रहे अन्य पदार्थों में न रहे उसे विशेष कहते हैं।

लक्षण संग्रह

(इस परिशिष्ट में उन शब्दों की परिभाषा दी है जिनकी परिभाषा मूल पाठ में नही है, किन्तु शब्द आये हैं)

अकाम निर्जरा—संकट सहन की इच्छा न होने पर भी मन्द कषाय-पूर्वक संकट सहन कर लेने की स्थिति में साधारण फल देकर कर्म प्रदेश का झड़ जाना अकाम निर्जरा है।

अगृहीत मिथ्यात्व—परोपदेशादि न मिलने पर भी विपरीत श्रद्धान रहना सो अगृहीत मिथ्यात्व है।

अघातिया कर्म—जो कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का तो घात नहीं करता किन्तु शरीर आदि का संगम करने के निमित्तभूत होते हैं उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं।

अजीव तत्त्व—जिनमें चैतन्य नहीं, ऐसे पदार्थों को अजीव तत्व कहते हैं।

अणुव्रत—पापों के एकदेश त्याग को अणुव्रत कहते हैं।

अतिचार—व्रतपालन की दृष्टि व चेष्टा रहते हुये भी व्रत का एकदेश भङ्ग होने को अतिचार कहते हैं।

अन्तरात्मा—अपने आत्मा के सहज अन्तः स्वरूप को अपना सर्वस्व स्वरूप मानने वाले आत्मा को अन्तरात्मा कहते हैं।

अनध्यवसाय—'कुछ है' ऐसा आभास रखता हुआ विशेष निर्णय रहित ज्ञान।

अनन्त—जिसका अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं।

अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन मन वचनकाय की प्रवृत्ति करने को अनर्थ दण्ड कहते हैं।

अनाचार—व्रत का सर्वथा भङ्ग हो जाना अनाचार है।

अनायतन—जो धर्म के आयतन (आधार) नहीं उन्हें अनायतन कहते हैं। अनायतनों की याने कुदेव कुशास्त्र कुगुरू व इनके आराधकों का अनुराग सम्यक्त्व को बिगाड़ देता है।

अनुप्रेक्षा—आत्मतत्व की ओर अभिमुखता बने ऐसी विधि से पदार्थों के अनित्यन्व आदि तथ्यों का बार बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अनेकान्त—भिन्न भिन्न दृष्टियों से परखे जाने योग्य अनेक धर्मों से समन्वित वस्तु को अनेकान्त कहते हैं और उसके निरुपण करने को अनेकान्त सिद्धान्त कहते हैं।

अमूर्तिक–जिन पदार्थों में रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं होता उन्हें अमूर्तिक कहते हैं।

अरहन्त—ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों से रहित, जन्मादिक अठारह दोषों से रहित, अनन्तज्ञानादि गुणों से सम्पप्न सशरीर परम आत्मा को अरहन्त कहते हैं।

अलोक—जहां जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व काल द्रव्य नहीं है, मात्र आकाश है उसे अलोक कहते हैं।

अवधिज्ञान - इन्द्रिय मन की सहायता के बिना आत्म शक्ति से रूपी पदार्थों का द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा लेकर जानना ही अवधिज्ञान है।

अविरति-पापों का त्याग न करना, व इन्द्रियविषयों की प्रीति का त्याग न करना अविरति है।

अविरत सम्यग्दृष्टि—जो सम्यग्दृष्टि तो है, किन्तु व्रतों का एकदेश भी पालन नहीं कर पाता उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

अशुभोपयोग—व्यसन, पाप, कषाय करने जैसे अशुभ कार्यों में उपयोग लगाने को अशुभोपयोग कहते हैं।

आत्मा—जानने देखने वाले पदार्थ को आत्मा कहते हैं।

आवश्यक—इन्द्रिय व मनके वंश न रहने वाले ज्ञानी पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले कर्तव्य को आवश्यक कहते हैं।

आस्रव तत्त्व-कर्मोंके आनेको मोह व क्षोभ होनेको आस्रव तत्व कहते हैं

उपभोग–जो वस्तु बार बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं।

उपयोग—जानने देखने को उपयोग कहते हैं।

एकान्तवाद—अनन्तधर्मात्मक वस्तुमें किसी एकही धर्म का (तत्व का) आग्रह करना एकान्तवाद है।

कर्म– जीव के मोह व क्षोभ का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाओं में जो कर्मपना आ जाता है तब उन्हें कर्म कहते हैं।

कषाय—आत्मा को कषने वाले याने दु:खी करने वाले भावको कषाय कहते हैं।

कुलिंग—जो भेष बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित, अहिंसक एवं निरारम्भ न हो और फिर भी उससे साधुताकी ख्याति बने तो वह कुलिङ्ग है।

केवलज्ञान—त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत स्पष्ट जानने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

गति–गतिनामा नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की अवस्था विशेष को गति कहते हैं।

गुण—द्रव्य की शक्तियों को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य के आश्रय में है और गुण रहित है।

गुणव्रत—श्रावक के अणुव्रतों को गुणित याने दृढ़ करने वाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं।

गुणस्थान—मोह और योग के सद्भाव व अभावरूप निमित्त से होने वाले आत्मा के सम्यक्त्व चारित्र गुणों की अवस्थाओ को गुणस्थान कहते हैं।

गुप्ति—मनोयोग, वचनयोग व काययोग के निरोध कर देने को गुप्ति कहते हैं।

ग्रहीत–उपदेशादिक संकेतों से जो ग्रहण किया जाये उसे गृहीत कहते हैं

ग्रैवेयक—लोकरचना में ग्रीवा स्थान पर बनी हुई रचना को ग्रैवेयक कहते हैं। ग्रैवेयक स्थान १६ स्वर्गों से ऊपर और अनुदिश विमान से नीचे हैं।

घातिया—आत्मा के ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व चारित्र वीर्य गुण के घाते जाने में निमित्तभूत होने वाले कर्मको घातिया कर्म कहते हैं।

चारित्रमोह–रागद्वेषादि विकारोंको चारित्रमोह करतेहैं यह चारित्रमोह

जीव की विपरिणति हैं और रागद्वेषादि विकारों के निमित्तभूत कर्म को चारित्रमोह कहते हैं यह द्रव्य कर्मरूप है याने चारित्र के घात करने वाले कर्मको चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

चिन्तामणि–चिन्तनमात्रसे अभिष्ट सिद्धि करने वाले पदार्थ को चिन्तामणि कहते हैं।

चेतना—आत्मा के ज्ञान दर्शन स्वभाव को चेतना कहते हैं।

छहढाला—जिस रचना में छह परिच्छेद हों उसे छहढाला कहते हैं।

जन्म—पूर्व भव छूटकर नवीन भव के ग्रहण को जन्म कहते हैं।

जलकायिक—जल ही जिस जीव का शरीर है उसको जलकायिक कहते हैं।

जीवतत्व—भाव दृष्टि से परखे गये जीव को जीवतत्व कहते हैं।

तत्व—वस्तु के भाव को स्वरूप को तत्व कहते हैं।

तप--इच्छा के निरोध को तप कहते हैं जिसके प्रताप से चैतन्य स्वरूप में उपयोग का प्रतपन होता है।

त्रसकाय – त्रसनाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई त्रस पर्याय वाले जीव को त्रसकाय कहते हैं ये द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं।

दर्शनमोह–सम्यक्त्व के घातक को दर्शनमोह कहते हैं। मोह, मिथ्यात्व रूपमोह जीव की विकृत परिणति है। इस मोह मिथ्यात्व भाव के मिमित्तभूत कर्म को दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं याने सम्यक्त्व गुण का घात करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं।

देव–रागद्वेष आदि सर्व दोषोंसे रहित सर्वज्ञ परमात्माको देव कहते हैं।

देव मूढता—वीतराग सर्वज्ञ देवको छोड़कर अन्य सराग अल्पज्ञ जीवों में देवपने की बुद्धि करना देवमूढ़ता है।

देशव्रती—अणुव्रती श्रावक को देशव्रती कहते हैं।

द्रव्य—गुण पर्यायवान वस्तु को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यकर्म--जीव के रागद्वेषादि विकार भाव का निमित्त पाकर कार्माण

वर्गणा जाति के पुद्गल स्कन्धों से जीव कर्मपना आ जाता है। तब उन स्कन्धों को द्रव्यकर्म कहते हैं।

द्रव्यहिंसा—जीवों के प्राणों का घात करना उनको कष्ट पहुंचाना द्रव्य हिंसा है।

धर्म—वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं, आत्मा के स्वभावको धर्म कहते हैं। आत्म स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान व उसमें रमण को धर्म कहते हैं। धर्म की प्राप्तिके लिये किये जाने वाले पौरुष को धर्म कहते हैं। संसार के दु:खों से छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचाने वाले पुरुषार्थ को धर्म कहते हैं। अहिंसा पोषक जीवदया, व्रत आदि आचारों को धर्म कहते हैं।

ध्यान—एक ओर ही चिन्तन के बनाये रखने को ध्यान कहते हैं।

नय—प्रमाण से जाने हुये पदार्थ में दृष्टि की अपेक्षा से एकदेश जानने को नय कहते हैं।

नरक—नरकगति नामकर्म के उदय से जीव जहां तीव्र वेदनायें सहते रहते हैं उस स्थान को नरक कहते हैं। यह स्थान अधोकोक में है।

निक्षेप—प्रमाण और नयों के बल से प्रचलित होने वाले लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

निगोद—जिनका जन्म, मरण, आहार, श्वास एक साथ व समान होता है ऐसे साधारण वनस्पतिकाय जीवों को निगोद कहते हैं।

निश्चय—एक द्रव्य के गुण पर्याय आदि तत्व को उसी द्रव्यमें निरूपण करने को निश्चय कहते हैं।

निश्चयकाल—लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर अवस्थित वर्तनालक्षण वाले द्रव्य को निश्चयकाल कहते हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग—सहजसिद्ध अन्तस्तत्व में आत्मत्व के श्रद्धान ज्ञान व रमण करने के पौरुष को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं।

नोकर्म—जिसका आश्रय करके जीव कर्मफल को भोगता है उस पदार्थ को नोकर्म कहते हैं।

पञ्चेन्द्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्न ये पांच इन्द्रियां जिन

जीवों के होती है उन्हें पञ्चेन्द्रिय जीव कहते हैं।

परमात्मा—उत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मी जिन्हें प्राप्त हो चुकी ऐसे निर्दोष आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

परिवर्तन—जीव के परिभ्रमण के भवों की अनन्तताका अनुमापक द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव के परिवर्तन।

परीषह-कर्मों की निर्जरा के अर्थ विविध परीषहों का समतासे सहना।

परोक्ष—इन्द्रिय और मन की सहायता से वस्तुका ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है।

पर्याय—द्रव्यों के गुणों का विकार (परिणमन) पर्याय कहलाता है।

पवनकाय—वायु ही जिनका शरीर है ऐसे जीवों को पवनकाय (वायु-काय) कहते हैं।

पावककाय–पावक (अग्नि) ही जिनका शरीर है ऐसे जीवों को पावक-काय (अग्निकाय) कहते हैं।

पाखण्डिमूढ़ता - परिग्रही आरम्भवान विषयलोलुप विचित्र वेशवान पुरुषों में साधुपने की बुद्धिकर उनको पूजना पाखण्डिमूढ़ता है।

प्रतिक्रमण—लगे हुये दोषों का प्रायश्चित कर दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

प्रत्यक्ष–इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना आत्मीय शक्तिसे वस्तुको स्पष्ट जानना प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रत्येक—एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो ऐसे शरीर को प्रत्येक कहते हैं।

प्रत्येकवनस्पति—एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो ऐसे वनस्पति (पेड़ आदि) को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

प्रमाण—विविध दृष्टियों से वस्तुका पूरा ज्ञान होना प्रमाण ज्ञान है।

प्रमाद–मोक्षमार्ग में असावधान करने वाले कषाय को प्रमाद कहते हैं।

भव्य–रत्नत्रययुक्त हो सकने की शक्ति के विकास की योग्यता जिनमें हो ऐसे जीवों को भव्य जीव कहते हैं।

भावकर्म–मोह क्रोध मान माया लोभादि विकारों को भावकर्म कहते हैं।

भावहिंसा–आत्मा के ज्ञानदर्शन प्राण का घात होना याने मोह राग द्वेष

विकार जगना भावहिंसा है।

भूमिकाय-पृथ्वी ही जिनका शरीर है ऐसे जीवों को भूमिकाय (पृथ्वी-काय) कहते हैं।

भोग—जो वस्तु एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं।

मतिज्ञान—इन्द्रिय व मन के द्वारा वस्तु के साधारण (अविशेष) ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

मद—रूप, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, तप आदि का घमण्ड करना मद कहलाता है।

मन: पर्यय-इन्द्रिय मन की सहायता के बिना पर के मनमें तिष्ठते हुये पदार्थ को स्पष्ट जान लेना मन:पर्ययज्ञान कहलाता है।

महाव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पांचों पापों का पूर्ण रूप से त्याग होने को महाव्रत कहते हैं।

मिथ्यादर्शन—आत्मा के सहज स्वरूप का श्रद्धान न होना परपदार्थ व परभाव में आत्मत्वका श्रद्धान होना मिथ्यादर्शन कहलाता है।

मिथ्याज्ञान—पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा न जानकर अन्य प्रकार जानना मिथ्याज्ञान कहलाता है।

मिथ्याचारित्र—आत्मस्वभाव में न रमकर बाह्य पदार्थों में रम जाने को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

मुनि—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय, विजय, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, प्रासुक भूमि काठ तृण पर शयन, नग्नता, केशलोंच, एक बार भोजन, दंत धोवनका त्याग, स्थिर आहार इन २८ मूलगुणोंका पालन कर आत्म स्वभाव की उपासना के उद्यमी अन्तरात्मा को मुनि कहते हैं।

मूढ़ता-अतत्व, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरूमें मुग्ध होनेको मूढ़ता कहते हैं।

मूर्तिक-रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवान पदार्थों को मूर्तिक पदार्थ कहते हैं।

मेरु-जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड व पुष्करार्द्ध के विदेह के मध्य में स्थित गोल नीचे विस्तृत ऊपर संकुचित महान पर्वत।

मोक्ष—द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से सदा के लिये छूट जाने को मोक्ष कहते हैं।

मोह—स्व व परमें भेद की सुध न रहकर स्व पर में एकत्व की आस्था को मोह कहते हैं।

योग—आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द को योग कहते हैं।

लोक—जहां जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये छहो प्रकार के द्रव्य पाये जावें उसे लोक कहते हैं।

लोकमूढ़ता–नदी स्नान, बालूका ढेर बनाना, पत्थरो का ढेर बनाना, पर्वत से गिरना, अग्नि में पतन आदि कार्यों को धर्म मानना व धर्म मानकर करना लोकमूढ़ता है।

वहिरात्मा–देहादि पर द्रव्यों को व राग विकल्प आदि परभावों को आत्मा मानने वाले जीव को वहिरात्मा कहते हैं।

विकलत्रय–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय जीव को विकलत्रय कहते हैं।

विमानवासी–सोलह स्वर्ग व ऊपर के निवासी देवोंकी विमानवासी देव कहते हैं।

विशेष–वस्तु के असाधारण धर्म को विशेष कहते हैं।

वीतराग–रागद्वेषादि विकारों से रहित को वीतराग कहते हैं।

व्यवहार–भेद विवरण सहित निरूपण करने को व्यवहार कहते हैं।

व्यवहारकाल–काल द्रव्यकी पर्यायों के समूह के माने गये घड़ी घण्टा दिन माह वर्ष आदि समयों को व्यवहारकाल कहते हैं।

व्यवहारमोक्षमार्ग– जो निश्चय मोक्षमार्ग का साधक, हो जो निश्चय मोक्षमार्ग के समय प्रवर्तन हो, इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

व्यवहारसम्यक्त्व–जो निश्चय सम्यक्त्व से पहिले का अनुकूल प्रवर्तन हो जो निश्चय सम्यक्त्वके समय प्रवर्तनहो, कदाचित याने ओपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नष्ट हो जाने पर भी अनुकूल प्रर्वतन हो वह व्यवहार सम्यक्त्व है।

व्रत—पांच पापों से विरक्त होने को व्रत कहते हैं।

शिक्षाव्रत—जिन नियमाचारों से मुनिव्रत पालन की शिक्षा मिले उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं।

शिव—कल्याण, आत्मीय, आनन्द व मोक्ष।

शुक्ल ध्यान—प्रवृत्ति रहित व वीतरागभाव के अतिशय में होने वाले निर्मल ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते हैं।

शुद्धोपयोग-- शुभाशुभभावरहित आत्मा का शुद्ध उपयोग।

शुभोपयोग—देवपूजा आदि धार्मिक शुभ कार्यों की ओर उपयोग होना।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुये पदार्थ में और विशेष की जानकारी होना।

श्वास समय-स्वस्थ पुरुष की नाड़ी एक बार में जितने समय को चले उतने समय को एक श्वास कहते हैं।

सकल व्रत-पञ्च पापों के सर्वदेश त्याग को सकल व्रन कहते हैं।

सकल संयम-महाव्रत समिति आदि मुनि के समस्त आचार को सकल संयम कहते हैं।

सन्यास सर्व परिग्रह आरम्भ विषय कषाय के त्याग को सन्यास कहते हैं और ऐसे सन्यासपूर्वक आहारपान आदि की इच्छा का भी निराकरण करते हुये मरण करने को सन्यास मरण कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-आत्मा के अनादि अनन्त अहेतुक सहज अन्तस्वरूप की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान-पदार्थ का जैसा स्वरूप है उस ही प्रकार से जानकारी को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्यक्चारित्र-आत्मस्वरूप में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

संवर—विकार के निरोध को संवर कहते हैं। जीव विकार का निरोध भाव संवर है। कार्माण वर्गणाओंमें कर्मत्वका न आना द्रव्य संवर है।

स्वरूपाचरण-स्वरूप की ओर अधिमुखता, लग्नता, स्थिरता को स्वरूपाचरण कहते हैं।

समिति-प्रवृत्तिमें यत्नाचार होने को समिति कहते हैं।

पं० श्री दौलत राम जी

पाठ चाहेंगे कविवर पं० दौलत राम जी के विषय में जानना

छह ढाला के रचयिता पं० दौलतराम जी किस वंश में उत्पन्न हुए और कहां के निवासी थे और उन का जीवन परिचय क्या है ? ये बातें जानने की हैं। हालांकि पंडित जी ने स्वयं अपना परिचय नहीं दिया, लेकिन जो भी ज्ञात हो सका है वह इस प्रकार है—

पं० दौलत राम जी की जन्म भूमि हाथरस थी आप श्री टोडरमल जी के पुत्र थे आपकी जाति पल्लीवाल थी आपको फतहपुरिया भी कहा जाता था। आप का विवाह अलीगढ़ निवासी सेठ चिन्तामणि जी बजाज की सुपुत्री के साथ हुआ था। आपके दो पुत्र थे आप स्वयं बाजाजे का कारोबार करते थे पश्चात अलीगढ़ जाकर रहने लगे और वहां आप कपड़े छापने छींटे बनाने का काम करने लगे। छपाई का कार्य करते हुए भी आप की रुचि आध्यात्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन की बनी रही। रोजाना ५० ६० पद्य को याद करना आपके जीवन का अंग बन गया था। आप विवेकी एवं संस्कृत के अच्छे विद्वान भी थे। आपमें जैन सिद्धांत को जानने की एक बहुत बड़ी भावना थी कुछ समय पश्चात आप अलीगढ़ छोड़कर दिल्ली में आकर रहने लगे और वहां पर विद्वानों की गोष्ठी का सुयोग्य आपको प्राप्त हुआ और वह अपना अधिकांश समय तत्वचिन्तन, सामायिक आदि प्रशस्त कार्यों में बिताने लगे। उनकी मृत्यु कब और कहां हुई यह कुछ कहा नहीं जा सकता।

सुमेरचन्द जैन मन्त्री

भारत दर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर

सागर—दो हजार कोस लम्बे चौड़े गड्ढे में परिपूर्ण अविभाग रोमांश के सौ सौ वर्ष में एक एक के निकालने की उपमा से जितने वर्षों में गड्ढा खाली हो जाय उतने समय को व्यवहारपल्य कहते हैं। व्यवहारपल्य से असंख्यात गुणा उद्धारपल्य, उद्धार पल्य से असंख्यातगुणा अद्धापल्य। दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर।

सामान्य—अनेक पदार्थों में समानरूप से रहने वाले धर्म को सामान्य कहते हैं।

संशय—अनेक कोटियों में ढलता हुआ अनिश्चित ज्ञान संशयज्ञान कहलाता है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्